गरीबी को बनाये रखो : गरीबों को जिन्दा रखो

मनुष्य के कल्याण के लिए
पहले उसे इतना भूखा रखो कि वह और कुछ
सोच न पाए
फिर उसे कहो कि तुम्हारी पहली जरूरत रोटी है
जिसके लिए वह गुलाम होना भी मंजूर करेगा
फिर तो उसे यह बताना रह जायेगा कि
अपनों की गुलामी विदेशियों की गुलामी से बेहतर है
और विदेशियों की गुलामी वे अपने करते हों
जिनकी गुलामी तुम करते हो तो वह भी क्या बुरी है
तुम्हें तो रोटी मिल रही है एक जून।

—रघुवीर सहाय

हमारा देश एक बेहद मुश्किल दौर से गुजर रहा है।

मेहनतकश आम जनता बेरोजगारी, भुखमरी, कुपोषण और बदहाली से ग्रस्त है। देश में 40 करोड़ लोग हर रोज भूखे पेट सोते हैं। लाखों बच्चे भर पेट भोजन न मिलने के कारण हर साल असमय मौत का शिकार हो रहे हैं। दो वक्त की रोटी के लिए करोड़ों लोग काम की तलाश में अपनी जमीन से उजड़ कर दर-दर की खाक छानने को मजबूर हैं। सरकार इन मामलों में पूरी तरह लापरवाह और बेरहम है। उसने जनता की तकलीफों से अपना मुँह फेर लिया है। महँगाई अपनी सारी हदें पार कर चुकी है। कल्पना करना कठिन है कि 20 रुपये रोज पर गुजारा करने वाले देश के 80 करोड़ लोग आज किस हाल में होंगे, जबकि दाल, चावल, आटा, नमक, तेल-मसाले और ईंधन जैसी निहायत जरूरी चीजों की कीमतें आसमान छू रही हैं।

दूसरी ओर एक स्वप्निल दुनिया की विराट छवि वाला पूरे पन्ने का विज्ञापन अखबारों में छप रहा है। नोयडा और आगरा को छः लेन की 165 कि.मी. लम्बी सड़क से जोड़ने वाले जमुना एक्सप्रेस वे प्रोजेक्ट के इस विज्ञापन में पाँच ऐसे निर्माणाधीन नगरों का कलात्मक प्रतिरूप अंकित है जिसमें गोल्फ का मैदान, क्लब, मल्टीप्लेक्स, थीम पार्क, अत्याधुनिक अस्पताल, स्कूल-कॉलेज और दिनरात बिजली आपूर्ति की सुविधा होगी। अब तक इसमें लगभग 6250 करोड़ रुपये लग चुके हैं और 13,900 इकाइयाँ बिक चुकी हैं। भारत की धरती पर यह पहला और अनोखा स्वर्ग नहीं है। जिस समय मुम्बई, पुणे, बैंगलोर, हैदराबाद, गुड़गाँव, नोयडा और देश के कई अन्य शहरों में ऐसी आलीशान बस्तियाँ बसायी जा रही थीं, ठीक उसी दौर में और उतनी ही तेजी से हमारे देश में कंगाली-बदहाली, कुपोषण, भुखमरी और अकाल मृत्यु बढ़ रही थी। विकास की इस दिव्य और भव्य छवि में वे किसान कहीं नहीं हैं, जिनकी जमीनें जबरदस्ती छीन ली गयीं, इनके विरोध को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया और उनके आगे मुआवजे की छोटी सी रकम फेंक कर, उन्हें रोजी-रोटी के लिए मुहताज बनाकर दर-दर की ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया गया।

पिछले कुछ महीनों से हमारे देश के शासक गरीबी दूर करने पर तो नहीं, लेकिन गरीबों की संख्या तय करने पर काफी माथापच्ची कर रहे हैं। गरीबों की गिनती के बारे में अब तक चार तरह के सरकारी आँकड़े आ चुके हैं। योजना आयोग के मुताबिक इस देश में 28 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं, जबकि अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी के अनुसार 77 प्रतिशत, एन.सी. सक्सेना आयोग के अनुसार 50 प्रतिशत और तेन्दुलकर कमेटी के अनुसार 42 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे है। गरीबी रेखा को सरकाकर ऊपर नीचे कर दो और मनचाहा आँकड़ा ले लो 35 करोड़ से लेकर 80 करोड़ तक (यह आँकड़ा भी 20 रुपये रोज की आमदनी पर आधारित है जो सच पूछा जाय तो कंगली रेखा है)। आँकड़ों की इस बाजीगरी का मकसद गरीबों को दी जाने वाली सरकारी सुविधाओं को कम से कम लोगों तक सीमित करना है।

गरीबों की गिनती करवाने वाले लोग कौन हैं? उनकी अपनी माली हालत कैसी है?

केन्द्रीय मंत्रीमण्डल में शामिल लोगों की कुल सम्पत्ति 500 करोड़ रुपये है, यानी हर मंत्री औसतन 7.5 करोड़ की सम्पत्ति का मालिक है। इनमें से चोटी के 5 करोड़पति मंत्रियों की सम्पत्ति 200 करोड़ रुपये है। इस देश की 80 प्रतिशत गरीब जनता की नुमाइन्दगी करने वाले सांसदों की औसत सम्पत्ति 5.1 करोड़ है। सम्पत्ति का यह ब्योरा चुनाव आयोग के सामने दिये गये उनके हलफिया बयान पर आधारित है, जिनसे वे करोड़ों की सम्पत्ति की कीमत लाखों में दिखाते हैं। काले धन का विवरण इसमें शामिल नहीं है।

यही वे लोग हैं— हमारे गरीब देश के धनाढ्य नेता जिनके हाथों में उन 80 करोड़ लोगों के किस्मत की डोर है जो 20 रुपये

रोज पर गुजर-बसर करते हैं। खाद्य सुरक्षा पर राय देने के लिए गठित इन्हीं मंत्रियों के एक समूह ने गरीबी रेखा के नीचे के कार्डधारकों के लिए पहले राशन में मिलने वाले अनाज को 35 किलो से घटाकर 25 किलो करने और इसके दायरे को सिर्फ 28 प्रतिशत लोगों तक सीमित रखने की सिफारिश की है। गरीबों के प्रति इनके निर्मम और निष्ठुर रवैये को समझने के लिए यही एक उदाहरण काफी है।

*** ** * ***

गरीबों की संख्या को लेकर विवाद हो सकता हैं, उनकी संख्या कुछ करोड़ कम या ज्यादा हो सकती है, लेकिन यह एक निर्विवाद सच्चाई है कि हमारे देश की भारी बहुसंख्या विपन्न और कंगाल लोगों की है। यह कुदरत का करिश्मा नहीं, हमारे शासकों का किया-धरा है। 1991 में नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद से लाखों छोटे-बड़े उद्योग तबाह हुए और करोड़ों लोगों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। इसी बीच खेती की तबाही के चलते लाखों किसान बर्बाद हुए। खेती पर निर्भर गाँवों के 85 प्रतिशत भूमिहीन, गरीब और सीमान्त किसान पहले भी मुश्किल से ही गुजारा कर पाते थे। कृषि संकट ने उन की स्थिति और भी बदतर बना दी। ग्रामीण आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा कर्ज के जाल में फँसता गया। 1997 से 2007 के बीच 2 लाख से भी अधिक किसानों ने आत्महत्या की। गाँव से उजड़े लोगों को अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में भी कोई सम्मानजनक वैकल्पिक रोजगार नहीं मिला। नये औद्योगिक इलाकों में बेहद कम मजदूरी और अमानवीय सेवा-शर्तों पर हाड़-तोड़ मेहनत करने वाले लोगों की नारकीय जिन्दगी की कीमत पर श्रम की उत्पादकता बढ़ायी गयी। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विध्वंश और शहरों में नये रोजगार के अवसर में कमी के चलते अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र का विस्तार हुआ। शहर की गंदी बस्तियों में पेट भरने के लिए कम से कम मजदूरी पर खटने वाले, गुलामों से भी बदतर जिन्दगी जीने वाले लोगों की भारी भीड़ जमा होती गयी। शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण ने इन वंचित लोगों की जिन्दगी को जहन्नुम में धकेल दिया। अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों पर अर्जुन सेना गुप्ता कमेटी की रिपोर्ट में इसका विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत किया गया है।

उदारीकरण की नीतियों ने जिस निर्यात-केन्द्रित अर्थव्यवस्था को बढ़ावा दिया था, अमरीकी आर्थिक संकट ने उसकी हवा निकाल दी। लेकिन इसकी असली कीमत इस क्षेत्र में कार्यरत लाखों मजदूरों को ही चुकानी पड़ी। उद्योगपतियों के उद्धार के लिए सरकार ने अपनी तिजोरी के मुँह खोल दिये, जबकि अपनी रोजी-रोटी गँवाने वाले लाखों मजदूरों की किसी ने सुध नहीं ली।

विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज), विशेष वन क्षेत्र, बाँध, खादान और अन्य विकास योजनाओं तथा शहरीकरण के नाम पर असंख्य किसानों और आदिवासियों को जमीन और रोजी-रोटी से वंचित करके उन्हें कंगाली के दलदल में धकेल दिया गया। इन जनविरोधी नीतियों का नतीजा पहले से पता था।

महँगाई को आसमान पर पहुँचाने में भी वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों का ही हाथ रहा है। एक तरफ इन नीतियों ने खाद्य सुरक्षा के तहत सरकारी खरीद, भण्डारण और सार्वजनिक वितरण के रहे-सहे ढाँचे को भी ध्वस्त कर दिया, वहीं दूसरी ओर विदेशी कम्पनियों को अनाज की खरीद, भण्डारण और व्यापार की छूट देकर जमाखोरी और कालाबाजारी को नये रूप में सामने ला दिया। साथ ही उन्हें फ्यूचर ट्रेडिंग के द्वारा बेलगाम सट्टेबाजी करने की खुली इजाजत दी गयी। अनाज के आयात-निर्यात को पूरी तरह खुला कर दिया गया जिसके चलते अनाज की कीमतें विश्व बाजार के उतार-चढ़ाव से तय होने लगी। जाहिर है कि इन्हीं नीतियों के चलते अनाज की कीमतों पर कोई लगाम नहीं रहा यह महँगाई किसी प्राकृतिक आपदा का नतीजा नहीं है। करोड़ों लोगों के मुँह से निवाला छीन कर, उन्हें कुपोषण और भुखमरी का शिकार बनाकर सरकार ने देशी-विदेशी कम्पनियों को मलामाल किया है। यह स्थिति एक आपराधिक षडयंत्र का परिणाम है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस व्यवस्था के पहरुए गरीबी दूर नहीं कर सकते। उनका काम गरीबी पैदा करना है, उसे बढ़ाना है। गरीबी उनकी नीतियों का नतीजा है, न केवल 1991 के बाद वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों का बल्कि आजादी के बाद से ही 'समाजवाद' और सार्वजनिक क्षेत्र के आवरण में सजायी गयी जनविरोधी नीतियों का भी परिणाम है। इतना जरूर था कि उस दौर में जनता के संगठन अपेक्षतया मजबूत होने और शक्ति संतुलन अनुकूल होने के कुछ फायदे थे। समाज का मुखर तबका– मध्यम वर्ग और मेहनकशों के जीवन स्तर में इतना भारी अन्तर और दूरी नहीं थी। इसलिए सरकारों को गरीबी हटाओ, जैसे नारे देने पड़ते थे और कुछ कल्याणकारी कार्यक्रम भी चलाने पड़ते थे। आज के शासकों के सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं है।

अपनी चेतना और संगठन के दम पर जनता चाहे तो सरकारों को पूँजीपतियों की निर्मम लूट पर एक हद तक लगाम कसने तथा गरीबी, महँगाई और विषमता को नियंत्रित करने के लिए बाध्य कर सकती है। भारत और चीन की तुलना से हम इसे समझ सकते हैं। विश्व बैंक के मुताबिक 1990 में चीन में 60 प्रतिशत और भारत में 51 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे थे। आज चीन में गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले लोगों की संख्या

मात्र 16 प्रतिशत है, जबकि भारत में 41.6 प्रतिशत। इस बीच चीन में गरीबों की कुल संख्या 47 करोड़ कम हुई है जबकि भारत में 2 करोड़ बढ़ी है। सेनगुप्ता कमेटी के 77 प्रतिशत के हिसाब से गणना करें तो भारत में गरीबों की वास्तविक संख्या विश्व बैंक के अनुमान से कहीं ज्यादा है।

*** *** ***

1990 के बाद सरकार ने पूँजीपतियों के अनुकूल नीतियाँ बनाकर उनकी बेहिसाब लूट को बढ़ावा देने के अलावा प्रत्यक्ष रूप से उनकी तिजोरी में कितनी रकम उढ़ेली है इसका हिसाब लगाना कठिन है। एक अध्ययन के मुताबिक 2007-08 के एक वर्ष में सरकार ने पूँजीपतियों को प्रत्यक्ष कर में 87,468 करोड़ कस्टम ड्यटी में 1,53,593 करोड़ और एक्साइज ड्यूटी में 87,468 करोड़ की छूट दी। इसमें सब्सीडी को भी शामिल कर लें तो यह तोहफा लगभग 4,00,000 करोड़ के बराबर है।

अपने संकीर्ण वर्गीय स्वार्थों के चलते भारतीय शासक वर्ग की नीति कभी भी जनता के व्यापक हिस्से को साथ लेकर और उन्हें विकास का सहभागी बनाने की नीति नहीं रही। आजादी के बाद सत्ताधारी कॉंग्रेस पार्टी स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान किये गये आमूल भूमि-सुधार के अपने वादे से मुकर गयी। उल्टे उसने तेलंगाना और देश के कई हिस्सों में भूमि-सुधार की माँग को लेकर चलाये जा रहे किसान आन्दोलन को निर्ममतापूर्वक कुचलने का काम किया। तब से आज तक यह सवाल विभिन्न रूपों में सामने आता रहा। वामपंथी उग्रवाद प्रभावित इलाकों से सम्बन्धित सरकारी गैर-सरकारी रिपोर्टों में बार-बार भूमि-सुधार के कार्यभार के प्रति सरकार की उपेक्षा और उदासीनता को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया गया। लेकिन सरकार ने इस सवाल को गम्भीरता से नहीं लिया। उल्टे अब सेज और अन्य परियोजनाओं के नाम पर देश भर में किसानों की जमीन छीनने का एक नया सिलसिला चल पड़ा है जो वस्तुतः सीमित और नाम मात्र के भूमि सुधार को भी पलटने की ही कार्रवाई है।

आजादी के बाद की नीतियों के कारण 15-20 करोड़ का मध्यवर्ग उभरा। यहाँ के पूँजीवादी विकास की यह न्यूनतम शर्त थी कि कुछ लोगों को शासन-प्रशासन में सहयोगी और मानव-संसाधन के रूप में अर्थव्यवस्था के दायरे में शामिल किया जाये। ग्रामीण समाज में भी धनी और खुशहाल मध्यम किसानों के उभार के पीछे अपने बाजार के विस्तार का ही सीमित तर्क था। हरित क्रान्ति का लक्ष्य सर्वसमावेशी नहीं था। किसानों के मुट्ठीभर ऊपरी तबके को ध्यान में रख कर ही इसे शुरू किया गया था। ग्रामीण समाज का बहुत बड़ा हिस्सा हाशिये पर ही पड़ा रहा।

1991 के बाद नयी आर्थिक नीतियों ने मेहनतकश जनता की भारी आबादी को साथ लेने की बात तो दूर, उल्टे जो लोग किसी तरह विकास की धारा में खिंच आये थे उन्हें भी बाहर धकेलना शुरू किया। इन नीतियों ने समाज में ध्रुवीकरण को तेज किया, अमीरी-गरीबी की खाई को और अधिक चौड़ा किया और पहले से मौजूद सभी तरह के अन्तरर्विरोधों को तीव्र कर दिया। 'ट्रिकिल डाउन' अर्थशास्त्र के रूप में भारत की व्यापक जनता को जूठन पूँजीवाद का जो ख्वाब दिखाया गया था कि विकास का उच्छिष्ट टपक-टपक कर समाज के निचले तबकों की झोली में गिरेगा वह कोरा बकवास साबित हुआ।

विपन्नता के पारावार में समृद्धि के कुछ द्वीप निर्मित हुए, एक अरब लोगों की नारकीय जिन्दगी की कीमत पर 20-25 करोड़ लोगों के लिए बाजार का निर्माण किया गया। गरीबी, कुपोषण, भुखमरी और अकाल मौत भारतीय समाज की स्थायी परिघटना बन गयी। सामाजिक ताना-बाना तनावग्रस्त होकर टूटने-बिखरने के कगार पर पहुँच गया। अदूरदर्शी भारतीय शासक वर्ग आज बन्द गली के आखिरी मुकाम की ओर बढ़ता जा रहा है। यही इसकी नियति है।

गरीबी के बारे में शुरू से ही हमारे देश के शासकों का रूख इसे खत्म करने के बजाय इसे बनाये रखना और कम से कम साधनों पर गुजारा करने वाले गरीबों को किसी तरह जिन्दा रखना रहा है। गरीबी दूर करने के नाम पर जितनी भी योजनाएँ अब तक शुरू की गयीं- अन्त्योदय से लेकर काम के बदले अनाज, दोपहर का भोजन, सस्ता अनाज, वृद्ध और विधवा पेन्सन, इन्दिरा आवास, स्वरोजगार योजना, और रोजगार गारण्टी तक, इनमें से किसी का उद्देश्य गरीबी दूर करना नहीं बल्कि उसे बनाये रखना ही रहा है।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी कानून (नरेगा) भी काफी हीलाहवाली और पैसे की तंगी का रोना रोने के बाद शुरू हुआ, लेकिन यह स्थायी रोजगार का विकल्प नहीं है। लेकिन लोग अभाव और वंचना की ऐसी चरम स्थिति में जीने को अभिशप्त हैं कि थोड़ी सी राहत भी उनके लिए प्राणवायु का काम करती है। तमाम भ्रष्टाचार और लूट खसोट के बावजूद महीने में दो-चार दिन की मजदूरी भी उनकी जिन्दगी की गाड़ी को कुछ दिन और घसीट लेने में मददगार लगती है। इसीलिए 200 रुपये महीने पेन्सन पाने वाले 70 साल के बूढ़े भी इस योजना में काम माँगने चले आते हैं और मर-जीकर करते भी हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना अभी तक जमीन पर नहीं उतारी गयी। लेकिन इसमें भी सरकार की मंशा साफ है। सरकार ने सबके लिए एक समान इलाज की पहले से चली आ रही है सरकारी व्यवस्था चाहे वह कितनी भी खराब रही हो, उदारीकरण और निजीकरण की

नीतियों के तहत धीरे-धीरे खत्म करती गयी। अब महँगी निजी अस्पताल और नर्सिंग होम ही इलाज के साधन हैं। गाँवों में लोगों के कर्जदार होने का एक बहुत बड़ा कारण महँगा इलाज है। अब सरकारी अस्पताल की जगह गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले केवल 6 करोड़ लोगों के लिए नाममात्र की राहत देने वाली स्वास्थ्य बीमा शुरू की गयी है। इसके लिए सरकार ने थोड़े से गरीबों के लिए किसी तरह उन्हें जिन्दा रखने का इन्तजाम किया है। इसके तहत निजी अस्पतालों में बाह्य रोगी के रूप में साल भर में 30 हजार रुपये तक के इलाज कर इन्तजाम है। दवा के अभाव में मरते, दर्द की मामूली गोली के बिना तड़पते लोगों के लिए यह राहत हो सकती है, लेकिन क्या गरीबी रेखा की सीमा रेखा पर खड़े किसी रोगी को दवा के बगैर मर जाना चाहिए? गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले लोगों को भी क्या 30 हजार रुपये से अधिक खर्च वाली बीमारी से मर जाना चाहिए?

दरअसल सरकार यही चाहती है कि लोग किसी तरह जिन्दा रहें ताकि घिसटते-पिसटते मतदान केन्द्र तक पहुँच कर अपना वोट डालते रहें और अपने ऊपर शासन करने की उसकी मीयाद बढ़ाते रहें। लोगों को इतना तंगहाल और लाचार बना दिया गया है, उनके स्वाभिमान को रौन्द कर उन्हें इस हद तक याचक बना दिया गया है कि जिन्दा रहने के लिए छोटी से छोटी राहत से ही वे संतुष्ट हो जाते हैं। जनता की इस मनोदशा को शासक वर्ग खूब भुना रहे हैं।

पिछले दिनों पी. साईनाथ ने चावल की सस्ती कीमत को राजसत्ता हथियाने की सस्ती कीमत बताया था। पिछले चुनाव में जनता को कम दाम पर चावल देने का वादा करके कई राज्यों में दुबारा चुनाव जीतने का यह सस्ता तरीका अपनाया गया। छत्तीसगढ़ में भाजपा सरकार ने चुनाव से ठीक पहले गरीबी रेखा के नीचे हर एक परिवार को हर महीने 35 किलो चावल 3 रुपये किलों के भाव देने का वादा किया और 70 प्रतिशत परिवारों को गरीबी रेखा के नीचे घोषित कर दिया। इसका भरपूर फायदा उसे चुनाव में मिला। आन्ध्र प्रदेश में चुनाव से पहले सरकार 18 लाख लोगों को हर महीने 75 रुपये वृद्ध, विकलांग या विधवा पेंसन देती थी जिसे बढ़ा कर वृद्ध और विधवा के लिए 200 रुपये और विकलांग के लिए 500 रुपये कर दिया गया यह घोषणा चुनावी वैतरणी पार करने में सहायक भी हुई। तभी से सस्ते अनाज का वादा करके वोट लेने का सिलसिला चल पड़ा—कोई 3 रुपये कीलो अनाज देने का वादा करता है तो कोई 1 रुपये कीलो। इस सस्ती कीमत और सस्ती लोकप्रियता के बल पर विभिन्न पार्टियों ने चुनाव जीत कर पूँजीपतियों की झोली भरने, देश की विपुल सम्पदा को कौड़ियों के मोल नीलाम करने और अपनी जनविरोधी नीतियाँ लागू करने का अधिकार हासिल कर लिया।

अगर जनता की विराट बहुसंख्या ऐसी दरिद्रता और बेबसी का शिकार इतनी चेतनाशून्य नहीं बना दी गयी होती तो क्या हमारे देश के चरमस्वार्थी, भ्रष्ट और हृदयहीन नेता अपनी जनविरोधी नीतियों से देश को रसातल में पहुँचाने के बावजूद इतनी आसानी से चुनाव जीत पाते!

दरअसल 60-70 के दशक से ही अपने अधिकारों के प्रति जनता की जागरुकता और राजनीतिक चेतना को कुन्द करने की लगातार कोशिश होती रही है। पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियाँ जनता को संगठित करने और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष में उनका नेतृत्व करने के बजाय उन्हें याचक और भिखमंगा बनाने का ही प्रयास करती रही हैं। वामपंथी पार्टियाँ भी कोई देशव्यापी जन आन्दोलन संगठित करने के बजाय अखबारों में बयानबाजी और अनुष्ठानिक विरोध से आगे नहीं बढ़तीं। पत्र-पत्रिकाएँ रेडियो, टीवी चैनल, सब ने गैर-राजनीतिक माहौल बनाने में बढ़-चढ़ कर भूमिका निभायी। स्वयं सेवी संगठन (एनजीओ) ने तो भीख लेकर भीख बाँटने को, अभावग्रस्त जनता के कल्याण को अपना पेशा ही बना लिया। कुल मिलाकर आज जनता के व्यापक हिस्से में चेतना और संगठन की बेहद कमी है जिसका फायदा उठा कर शासक वर्ग इस संकट की घड़ी में भी यथास्थिति को बनाये रखने में कामयाब है।

बेरोजगारी, गरीबी और महँगाई अपनी सभी सीमाएँ पार कर चुकी हैं। लोगों में बेचैनी और विक्षोभ का लावा अन्दर-अन्दर सुलग रहा है। कभी-कभी यह सतह पर भी अपने को अभिव्यक्त करता रहता है। लोग लाचार हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी कोई राजनीतिक ताकत दिखाई नहीं दे रही है जो इस जनाक्रोश को सही दिशा में ले जा सके। जरूरत है जनता को धैर्यपूर्वक जागृत, चेतनाशील और संगठित करने की, ताकि देश और जनता को इस अपमानजनक नारकीय स्थिति से बाहर निकाला जा सके। इस देश को एक समृद्ध, सशक्त और स्वाभिमानी देश में बदलने का यही एक मात्र रास्ता है।

❑

विश्व बैंक से कर्ज : वित्तीय क्षेत्र का विदेशीकरण

□दिगम्बर

खबर है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की पूँजी बढ़ाने के लिए भारत सरकार विश्व बैंक से अरबों रुपये का कर्ज लेने जा रही है।

यह सर्वविदित है कि 2007-08 में अमरीकी वित्तीय क्षेत्र में जो भारी भूचाल आया था उसने दुनिया की अधिकांश अर्थव्यवस्थाओं को अपनी चपेट में ले लिया था, जबकि भारतीय बैंक उस वित्तीय महासंकट से काफी हद तक बेअसर रहे थे। जब अमरीका और यूरोप सहित कई देशों से बैंकों के डूबने या विलय और अधिग्रहण करके अपना अस्तित्व बचाने की घटनाएँ रोज-रोज अखबारों की सुर्खियों में थी तब भारतीय बैंकिंग जगत इतमीनान से अपना कारोबार कर रहा था। इसका प्रमुख कारण भारतीय बैंकों के बहुलांश का सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन होना था। साथ ही रिजर्व बैंक ने बैंकों पर अंकुश लगा रखा था ताकि वे जोखिम भरे कर्जों और सट्टेबाजी के उपकरणों में धन न लगायें। संकट के उस दौर में उदारीकरण और निजीकरण के प्रबल समर्थकों के सुर-ताल रातों रात बदल गये थे। वित्तीय तंत्र की चोटी के लोग अर्थशास्त्री, नीति-निर्माता, नौकरशाह और आर्थिक विश्लेषक, सबके सब अचानक सरकारी नियन्त्रण और कठोर अनुशासन के प्रशंसक बन गये थे। वित्त मंत्री प्रणव मुखर्जी ने 2009 के बजट भाषण में इस तथ्य का बड़े गर्व से उल्लेख किया था कि भारतीय बैंकों को संकट से बचाने में राष्ट्रीयकरण और सरकारी नियंत्रण की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

लेकिन अब फिर से सरकार ने बैंकिंग क्षेत्र की नीतियों का रुख पलट दिया है उसने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के वित्तपोषण के लिए विश्व बैंक से अरबों रुपये का कर्ज लेने की प्रक्रिया शुरू की है। जाहिर है कि इन कर्जों के साथ भारी ब्याज दर और कठोर नीतिगत शर्तें जुड़ी होंगी। पिछले वर्ष मई में विश्व बैंक ने 2009-11 के दौरान भारतीय बैंकों की पूँजी में बढ़ोतरी के मद में कर्ज देने की घोषणा की थी वित्त मंत्रालय ने भी इस पर सहमति जताते हुए कहा था कि बैंकों की पूँजी बढ़ाने के लिए विश्व बैंक से 1600-17000 करोड़ (3 अरब डॉलर से अधिक) का कर्ज लिया जायेगा।

सवाल यह है कि भारतीय बैंकों को तत्काल पूँजी की जरूरत क्यों आ पड़ी कि उसके लिए विश्व बैंक से कर्ज लेना पड़ रहा है। और अगर ऐसी जरूरत है भी तो क्या सरकार के सामने पूँजी जुटाने का कोई और विकल्प नहीं है?

बैंकों की सेहत का जायजा लेने वाली सरकारी गैर-सरकारी एजेन्सियों की रिपोर्ट के मुताबिक भारतीय बैंकों की स्थिति काफी मजबूत है। बैंकों की पूँजी और जोखिम भरी परिसम्पत्तियों का अनुपात (सीआरएआर) यानी किसी अप्रत्याशित नुकसान की भरपाई करने के लिए जरूरी पूँजी, निर्धारित मानदण्ड के मुताबिक 9 प्रतिशत होनी चाहिए। इस मामले में बैंकों की स्थिति काफी अच्छी है और लगातार बेहतर होने की ओर बढ़ रही है। मार्च 2007 में यह अनुपात 12.3 प्रतिशत था जो बढ़कर मार्च 2008 में 13 प्रतिशत और मार्च 2009 में 13.2 प्रतिशत हो गया। इस मामले में भारतीय बैंकों की स्थिति अमरीका, ब्रिटेन और जापान से काफी अच्छी है और वह भी तब, जबकि उन देशों की तरह यहाँ के बैंकों में अतिरिक्त पूँजी झोंकने की जरूरत नहीं पड़ी। केवल दो बैंकों की स्थिति जरूरी मानदण्ड के करीब है। इनमें से एक निजी क्षेत्र का पुराना बैंक है और दूसरा विदेशी बैंक, जिसका सीआरएआर 9-10 प्रतिशत है। 2008 के बाद से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का औसत सीआरएआर 12.2 प्रतिशत रहा है।

रिजर्व बैंक और भारत सरकार की संयुक्त समिति- वित्तीय क्षेत्र मूल्यांकन समिति ने भी 2009 में अपना आंकलन प्रस्तुत किया था। उसमें भी पूँजी की प्रचुरता, परिसम्पत्तियों की गुणवत्ता और मुनाफे की दर जैसे मानदण्डों पर भारतीय बैंकों की स्थिति काफी बेहतर बतायी गयी थी। जाहिर है कि भारतीय बैंक किसी ऐसे आपातकालीन संकट से नहीं गुजर रहे हैं जिसके बहाने सरकार विश्व बैंक के दरवाजे पर कटोरा लेकर खड़ी हो जाये।

यदि बैंकों का कार्यक्षेत्र और कर्ज मुहैय्या करने के लिए नये ग्राहकों का दायरा बढ़ाना हो, तो उसकी पूँजी में वृद्धि करना जरूरी होता है। लेकिन पहले यह काम सरकार अपने आन्तरिक स्रोतों और घरेलू उपायों के जरिये करती रही है और आज भी कर सकती है। 1990 के दशक में सरकार ने बैंकों में अपना हिस्सा बढ़ाकर उन्हें पूँजी उपलब्ध करायी थी जिसकी भरपाई करने के लिए बैंकों ने सरकारी बॉण्ड खरीदे थे। इस प्रक्रिया में सरकार का कोई नुकसान भी नहीं होता, क्योंकि लेन-देन बराबर हो जाता है। दूसरा उपाय यह है कि बैंक खुद बॉण्ड जारी करें और उसके जरिये बाजार से पूँजी जुटायें। अभी हाल ही में बैंक ऑफ इण्डिया ने 50 करोड़ डॉलर का बॉण्ड जारी किया है। तीसरा उपाय यह है कि सरकार

विश्व बैंक से कर्ज लेने के बजाय अपने 265 अरब डॉलर के विदेशी मुद्रा भण्डार में से 3 अरब डॉलर बैंकों में निवेश करें। विदेशी मुद्रा भण्डार पर सरकार को केवल 2-3 प्रतिशत की सालाना आमदनी होती है, जबकि विश्व बैंक अपने कर्ज पर 10-12 प्रतिशत ब्याज वसूल करेगा। चीन का उदाहरण सामने है जिसने पिछले 10 वर्षों के दौरान अपने तीन बड़े बैंकों को और अभी हाल ही में चीन के कृषि बैंक को पूँजी उपलब्ध करायी। इसके लिए सरकारी निवेश निगम ने अपने विदेशी मुद्रा भण्डार से 40 अरब डॉलर बैंकों को उपलब्ध कराया। इस तरह चीन का वित्तीय क्षेत्र विदेशी दबाव और शर्तनामे से मुक्त रहा और वहाँ के बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण बना रहा। साथ ही वह भारी विदेशी कर्ज के बोझ और ब्याज भुगतान (सालाना 4 अरब डॉलर के करीब) से भी बचा रहा। क्या ये उपाय हमारे नीति निर्माताओं और शासकों को नहीं सूझते? क्या वजह है कि उन्हें विश्व बैंक से भारी ब्याज दर और कठोर शर्तों वाले कर्ज रास आ रहे हैं?

दरअसल विश्व बैंक के साथ हमारे शासकों के आमोद-प्रमोद के कारण कहीं गहरे हैं। 1991 में नई आर्थिक नीति आने के साथ ही भारतीय शासकों ने विदेशी पूँजी के साथ साँठ-गाँठ का रास्ता अपनाया तथा विश्व-बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और आगे चलकर विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) के इशारे पर नाचना शुरू किया। तभी से देश के भविष्य से सम्बन्धित अहम से अहम फैसले भी यहाँ की संसद और विधान सभाओं में नहीं, बल्कि वॉशिंगटन स्थित साम्राज्यवादी नीति निर्माताओं के दफ्तरों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मुख्यालयों में होने लगें। इसके बाद बीस वर्षों के दौरान अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में विदेशी-पूँजी की भागीदारी बढ़ायी गयी। उद्योग, खेती, खनन, अनाज-व्यापार, खुदरा-व्यापार, स्वास्थ्य, शिक्षा-अर्थव्यवस्था का कोई भी क्षेत्र आज विदेशी पूँजी के खूँखार पंजो की जकड़ से बाहर नहीं रहा। अब तो सरकार ने रक्षा क्षेत्र में भी 100 प्रतिशत तक विदेशी पूँजी निवेश की स्वीकृति दे दी है।

साम्राज्यवादी ताकतों और भारतीय पूँजी के समर्पणवादी नीतियों का प्रभाव वित्तीय क्षेत्र पर भी पड़ा। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और बीमा कम्पनियों को नियंत्रण मुक्त करने, उसमें सरकारी हिस्सेदारी कम करने और उन्हें देशी-विदेशी पूँजी की खुली लूट के लिए विघ्न-बाधा रहित बनाने के लिए सरकार लगातार प्रयासरत रही है। इसके लिए सरकार 90 के दशक में नरसिम्हन कमेटी तथा अभी हाल ही में रघुराम राजन कमेटी और पर्सी मिस्त्री कमेटी गठित की। इन सभी कमेटियों सिफारिशें देशी-विदेशी पूँजी के हित में बैंकों के निजीकरण और विदेशीकरण की वकालत करती थीं। इनमें से कई सुझावों को लागू भी किया गया और अगर सरकार अब तक इन्हें पूरी तरह लागू नहीं कर सकी तो महज इसलिए कि बैंकों और बीमा कम्पनियों के कर्मचारी संगठनों ने इन बदलावों का लगातार विरोध किया। साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और रिजर्व बैंक के शीर्षस्थ अधिकारियों की ओर से भी, अपने निहित स्वार्थों के चलते ही सही, इन नीतियों का कुछ हद तक विरोध होता रहा। इसके अलावा, सरकार भी बैंकों को पूरी तरह विदेशी पूँजी निवेशकों और देशी-विदेशी सटोरियों के हवाले करने से घबराती रही। लेकिन जब अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्र, विदेशी नीति और कई मामलों में घरेलू नीति भी साम्राज्यवादी गिरोह के सरगना अमरीका के मन्सूबों के अनुरूप और अनुकूल बनायी जा चुकी हैं तो भला वित्तीय क्षेत्र इससे कब तक अछूता रह सकता है।

आज के युग में किसी देश की अर्थव्यवस्था में बैंकों की वही भूमिका होती है जो हमारे शरीर में रक्त का संचार करने वाली शिराओं और धमनियों की। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन और सेवाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए पर्याप्त मात्र में धन मुहैय्या कराने का काम बैंकों के जरिये ही होता है। इसलिए इस संवेदनशील क्षेत्र को मनमानी शर्तों पर व सूदखोरी-मुनाफाखोरी के लिए बेलगाम छोड़ देने के बजाय जब इनका राष्ट्रीयकरण किया गया तब से इनकी प्राथमिकताएँ बदल गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं का विस्तार हुआ। कृषि, लघु उद्योग और कुटीर उद्योग को प्राथमिकता में कर्ज दिये गये। इन उपायों ने खुद बैंक के ग्राहकों और व्यापार का दायरा भी बढ़ाया जिससे उनकी पूँजी में बेहिसाब बढ़ोतरी हुई। भारत जैसे विकासशील देशों और साम्राज्यवादी देशों में बैंकों की स्थिति एक समान नहीं है।

वित्तीय क्षेत्र का जो महत्त्व भारत जैसे विकासशील देशों के लिए है उससे बिल्कुल अलग ही भूमिका वे साम्राज्यवादी देशों में निभाते हैं। भारत में आज भी उद्योग, कृषि और सेवाओं को पूँजी मुहैय्या कराने तथा सामाजिक क्षेत्र की सहायता देने में बैंकों की प्रबल भूमिका है। लेकिन अमरीकी अर्थव्यवस्था परजीविता और पतन के उस मुकाम पर पहुँच चुकी है जहाँ केवल 5 प्रतिशत पूँजी उत्पादन के क्षेत्र में लगी है। जबकि 95 प्रतिशत पूँजी शेयर बाजार में। वहाँ की पूरी अर्थव्यवस्था सटोरिया पूँजी की गिरफ्त में है। इसलिए उस समाज को एक बिराट जुआघर कहा जाता है, जिन अमरीकी नीतियों के चलते 2007-08 का वित्तीय महा-संकट पैदा हुआ और जिस संकट को अमरीका पूरी दुनिया में निर्यात कर रहा है, यदि भारतीय बैंक उनका अन्धानुकरण करने को बाध्य हो जायें, तो भारतीय अर्थव्यवस्था को ऐसी तबाही का सामना करना पड़ेगा, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अमरीका ने सट्टेबाजी के भँवर में फँसे अपने बैंकों और वित्तीय कम्पनियों को तबाही से बचाने के लिए एक मुश्त जितनी धन राशि झोंक दी थी वह भारत

की साल भर की कमाई (जीडीपी) से भी अधिक थी। अमरीका ऐसा इसलिए कर पाया कि उसकी तिजोरी में पूरी दुनिया की लूट का धन जमा होता है। यदि भारतीय बैंकों को सटोरिया कारोबार और जोखिम भरे कर्जों के लिए नियंत्रित नहीं किया गया तो वित्तीय भँवर में फँस कर उनका डूबना और वित्तीय महा-विपदा का आना लाजिमी है। ऐसी स्थिति आने पर भारत क्या करेगा?

विश्व बैंक के कर्ज का उद्देश्य हमारे देशी बैंकों की नहीं बल्कि संकटग्रस्त साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्थाओं को बचाना है। अमरीकी चौधराहट वाली विश्व पूँजीवादी व्यवस्था और उसके हित में काम करने वाले विश्व बैंक का मकसद बिल्कुल साफ है। साम्राज्यवादी देशों की एकाधिकारी वित्तीय पूँजी के लिए यह जरूरी है कि वे तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था और उनके सामाजिक जीवन में अपनी घुसपैठ बढ़ाये ताकि वहाँ के मेहनतकशों की कमाई की लूट-खसोट कर सकें। आर्थिक सुधार और पुनर्गठन, बैंक और बीमा क्षेत्र का उदारीकरण और निजीकरण साम्राज्यवाद के इस नये दौर की विशेषता है। इसके जरिये वे तीसरी दुनिया के देशों में पहले से चले आ रहे विदेशी पूँजी पर रहे-सहे नियन्त्रण को भी खत्म करवा कर उन देशों को अपनी लूट का चारागाह बनाना चाहते हैं और उन देशों के आत्मनिर्भर विकास और जनता की हिफाजत के प्रति नाममात्र की वचनबद्धता को भी खत्म करवाना चाहते हैं। भारतीय शासक उनके साथ साँठ-गाँठ करके उनकी इस लूट में साझेदार हो गये हैं। विश्व बैंक और डब्ल्यूटीओ जैसी साम्राज्यवाद परस्त संस्थाएँ इसी काम को अन्जाम देने में दिन रात लगी रहती हैं।

विश्व बैंक की शर्तें भी जगजाहिर है। विश्व एकाधिकारी वित्तीय पूँजी के अधीन यहाँ के वित्तीय क्षेत्र की नीतिगत प्राथमिकता अपने देश में खेती, उद्योग और सेवा क्षेत्र को कर्ज और सहायता देने तथा अपने देश के नागरिकों की खुशहाली के लिए सरकारी योजनाओं में धन लगाने के बजाय विदेशी पूँजी निवेश और खासतौर पर शेयर बाजार में निवेश को बढ़ावा देना होगा। अभी तक इस दिशा में जो कदम बढ़ाये गये हैं उनका नतीजा हम महँगाई, बेरोजगारी, कंगाली, भुखमरी और आत्महत्याओं के ऊँचे उठते ग्राफ के रूप में देख रहे हैं। 1991 के बाद जिस नयी आर्थिक गुलामी को बढ़ावा दिया जा रहा है वह वित्तीय क्षेत्र पर साम्राज्यवादी वर्चस्व के साथ मुकम्मल हो जायेगी। लेकिन आने वाले दिनों में इसके जो भयावह नतीजे सामने आयेंगे, वे न केवल यहाँ की बहुसंख्य गरीब जनता को और भी बदलावों में धकेलेंगे, बल्कि खुद शासक वर्गों और उनके पिछलग्गू अभिजात वर्गों को भी चैन से जीने नहीं देंगे।

❑

हैरतअंगेज सच्चाइयाँ

प्रस्तुत है संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1998 में किये गये अध्ययन से कुछ तथ्य-

❑ दुनिया की आबादी में सबसे धनी 20 फीसदी लोग दुनिया के कुल उत्पादों का 86 फीसदी उपभोग करते हैं, जबकि 20 फीसदी सबसे गरीब लोग केवल 1.3 फीसदी सामान खरीदते हैं। माँस से लेकर कागज और मोटर गाड़ियों तक।

❑ दुनिया के तीन सबसे धनी व्यक्तियों के पास जितनी सम्पत्ति है वह 48 सबसे गरीब देशों के कुल सकल घरेलू उत्पाद से ज्यादा है (ध्यान रहे कि यह तुलना सम्पत्ति और आय के बीच है)। यानी अगर ये तीन सबसे धनी व्यक्ति अपनी परिसम्पत्ति बेच दें तो वे इन 48 देशों का सारा उत्पादन खरीद सकते हैं।

❑ अगर दुनिया के 47 फीसदी सबसे गरीब लोग (लगभग 2.5 अरब) अपनी साल भर की आय को इकट्ठा कर लें तो उसके बदले वे दुनिया के सबसे धनी 225 लोगों की सम्पत्ति ही खरीद सकेंगे। अगर इन 225 धनाढ्य लोगों से 4 फीसदी सम्पत्ति कर वसूल लिया जाये तो उससे इस धरती के हर एक व्यक्ति के लिए भरपूर भोजन, साफ पानी, इलाज और सुरक्षित जल निकासी की सुविधा उपलब्ध की जा सकती है।

(कार्नरस्टोन पब्लिकेशन खड़गपुर से प्रकाशित माइकल डी. येट्स की पुस्तक "नेमिंग द सिस्टम : इन इक्वेलिटि एण्ड वर्क इन द ग्लोबल इकनॉमी" पेज- 57)

अपने अरबपतियों का पेट कैसे भरें

□पी. साईनाथ

(जब रोम जल रहा था तो नीरो वंशी बजा रहा था। आज देश में कुपोषण और भुखमरी का कोई अन्त नहीं, लेकिन सरकार गरीबी रेखा के नीचे (बीपीएल) परिवारों की गणना करने में ही उलझी है और उन्हें जीने भर की सहायता देने में आनाकानी कर रही है। दूसरी ओर फिल्मी सितारे, पूँजीपति, नेता और क्रिकेट खिलाड़ी आपस में साँठ-गाँठ करके अकूत धन-दौलत बटोर रहे हैं। मोदी-थरूर विवाद की नयी परतें खुल रहीं हैं और आईपीएल के भ्रष्टाचार के नये-नये मामले सामने आ रहे हैं। इसी सम्बन्ध में प्रस्तुत है अंग्रेजी दैनिक 'द हिन्दू' में 17 अप्रैल को प्रकाशित पी. साईनाथ के लेख का अविकल हिन्दी अनुवाद।)

और इस तरह से इण्डियन प्रीमियर लीग– आईपीएल का उत्पात अब अपने चैम्पियन लीग की ओर बढ़ता जा रहा है। केन्द्र के कई कैबिनेट मंत्रियों और राज्य मंत्रियों तथा कई मुख्यमंत्रियों (और क्या पता कि इसमें एक-दो राज्यपाल भी शामिल हों) के नाम सामने आ रहे हैं, जो बोली लगाने की प्रक्रिया को प्रभावित कर रहे हैं। संसद के दोनों सदनों में हंगामा हो रहा है। कर-अधिकारियों ने एक "जाँच-पड़ताल" की शुरुआत की है। राजनीति करने वालों और मीडिया वालों ने इस मामले को छोटा करके मालिकाने और व्यक्तियों तक सीमित कर दिया है। भारतीय क्रिकेट कण्ट्रोल बोर्ड और आईपीएल ऐसे मंच हैं जहाँ काँग्रेस पार्टी और भारतीय जनता पार्टी - दोनों एक साथ आराम से सहवास करते हैं। आखिरकार बड़ी पूँजी धर्मनिरपेक्ष और दो पक्षों की हिमायती ही तो होती है! (या तीन पक्षों की कह लीजिये - इस परिघटना में राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी (एनसीपी) की केन्द्रीय भूमिका को नकारना नहीं चाहिए।) यह भी मजेदार किस्सा है कि मीडिया अभी भी बड़े और कठिन सवाल पूछने से कन्नी काट रहा है, हालाँकि अब यह आईपीएल के नाजुक मामलों के बारे में कुछ खुलासा करने को मजबूर हुआ है जिससे कि यह मोदी-थरूर उन्माद को हवा देने से आगे जा सके और आरोपित स्मृति-लोप से बच सके।

अभी दस ही साल हुए जब क्रिकेट के इतिहास के सबसे बड़े मैच फिक्सिंग घोटाले ने इस खेल को हिला कर रख दिया था। उस का केन्द्र बिन्दु भी भारत के बड़े शहरों में ही था और उसमें भी भारत के व्यापारी और सटोरिये शामिल थे। लेकिन उसी के साथ इस खेल के चरम व्यावसायिक नये रूप ने जन्म लिया। इसके अंग-अंग पर अंकित था कि घोटाला तो बस होने ही वाला है। लेकिन मीडिया कह रहा था कि "वाह! क्या शानदार चीज है!"

और झटपट उसने "अविश्वास को जानबूझ कर टालने" वाली कार्यप्रणाली अपना ली। इस सट्टे में बिलकुल सही लोग शामिल थे। इसे बहुत मोहक बनाया गया था और सबसे बड़ी बात यह कि इसके पीछे विज्ञापन और पूँजीपतियों की बहुत बड़ी ताकत लगी हुई थी। इस स्थिति ने क्रिकेट के खेल को जो नुकसान पहुँचाया उसके अलावा इसमें पहले ही दिन से स्वार्थों का स्पष्ट टकराव भी था। यही वह जगह थी जहाँ बड़े पूँजीपति खुले तौर पर अपने राजनीतिक संरक्षकों के साथ गले मिल रहे थे। ऐसे भी लोग थे जिन्होंने अपने सरकारी कामों को थोड़ा भी महत्त्व नहीं दिया और इसे पूरा करने के लिए रंचमात्र भी समय नहीं निकाला जबकि बीसीसीआई-आईपीएल को पूरा महत्त्व और समय दिया। लेकिन मीडिया में शायद ही कभी ऐसे गम्भीर सवाल सामने आये हों।

अब अपारदर्शी लेन-देन, रिश्वतखोरी और "हम अच्छी तरह जानते हैं कि आप से कैसे निपटा जाये" जैसे धमकियों के बारे में बहस करने को मजबूर होना पड़ा। संदिग्ध निवेशकों, अस्पष्ट लेन-देन और शायद बड़े पैमाने पर करों की चोरी के बारे में भी बहस हो रही है। फ्रैंचाइजियों के इस आरोप की भी चर्चा हो रही है कि उन्हें लेन-देन के इस खेल से बाहर निकल जाने के लिए पाँच करोड़ डॉलर की रिश्वत देने का प्रस्ताव किया गया। इस दावे पर भी बहस हो रही है कि एक केन्द्रीय मंत्री ने भारी भय दिखाते हुए उन्हें चेतावनी दी कि वे इस खेल से बाहर हो जायें। ये सारे मामले मोदी बनाम थरूर या "अभद्रता" (एक सुन्दर, भद्र शब्द) के मुद्दे से कहीं बड़ी चीज को आगे ले जाते हैं। पैसे के मामले में छोटी-छोटी तफसील की बातें छोड़ दीजिए या यह भी छोड़ दीजिए कि कुछ फ्रेंचाइजी दसियों करोड़ का नुकसान उठा रहे हैं। इस तथ्य को भी नजरअन्दाज कर दीजिए कि इस तरह के नुकसान के बावजूद, उन्हीं के बीच से नये फ्रेंचाइजी दो टीमों पर 3,000 करोड़ रुपये तक लगा चुके हैं, जबकि वे टीमें अस्तित्व में ही नहीं हैं। पत्रकारों के एक छोटे-से समूह ने ही कुछ सन्देह व्यक्त किया है जो कि उनके व्यवसाय की माँग है। इस छोटे-से समूह ने इस विषय पर केवल विनोदी ढंग से प्रहार किया।

लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें किनारे लगा दिया गया उन्हें पार्टी-विशेष का पिछलग्गू कहकर उनका मजाक उड़ाया गया, उन्हें धमकियाँ दी गयीं और उन्हें गाली-गलौज वाले मेल भेजे गये।लेकिन उस सरकारी सब्सिडी के बारे में क्या खयाल है जो दुनिया

के कुछ सबसे धनी लोगों की जेब में जा रहा है? बीसीसीआई-आईपीएल कई तरीकों से हर साल सरकार से करोड़ों रुपये वसूलती है। अकेले महाराष्ट्र में आईपीएल के लिए 10-12 करोड़ रुपये के मनोरंजन-कर की माफी का मुद्दा विधानसभा में चर्चित हुआ। मीडिया में इसके बारे में बहुत थोड़ी रिपोर्टें आयीं और बहुत कम बहसें हुईं। महाराष्ट्र ने आईपीएल को अन्य कई तरह की मदद दी है जिसका लेखा-जोखा लिया जाना बाकी है। इस राज्य का कर्ज अगले साल 2,00,000 करोड़ रुपये से ज्यादा हो जायेगा, इसके बावजूद ऐसा किया जा रहा है। बीसीसीआई-आईपीएल को इसी तरह की सब्सिड़ी और माफी अन्य राज्यों और अन्य स्थानों पर भी दी जा रही है।

बीसीसीआई-आईपीएल को सार्वजनिक संसाधनों से छुपे ढंग से मुक्तहस्त लुटायी जाने वाली मोटी रकम के बारे में भी कोई बहस नहीं हुई है। यह कितना बड़ा मामला है, इसके बारे में किसी को कोई जानकारी नहीं है। इस पर भी कोई सवाल नहीं उठाया गया है कि कोई सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी उस टीम को "प्रायोजित" करने में क्यों पैसा खर्च करे जिसका मालिक इस धरती का चौथा सबसे धनी व्यक्ति है। जमीन का बेहद सस्ता पट्टा, स्टेडियम का बेहद सस्ता किराया और स्टेडियम की सुरक्षा का बहुत ही कम खर्च जैसे तमाम मुद्दों के बारे में भी कोई सवाल नहीं पूछा गया है। हमें यह भी पता है कि सरकार के कन्धों पर कितना बोझ डाला गया है- यह सम्भवतः दसियों करोड़ रुपये है। हमें इतना पता है कि जनता के पैसे से आईपीएल की मदद करने का यह मामला उस समय सामने आया है जब गरीब जनता को दी जाने वाली सब्सिडी मे भारी कटौती की जा रही है। लेकिन इस बारे में हम कुछ भी बोलना नहीं चाहते। आईपीएल के बारे में होने वाली जाँच के दायरे में बीसीसीआई को भी लाया जाना चाहिए और दोनों को ही खुले और गुप्त रूप से कितनी छूट और सब्सिडी दी गयी है, इसका पता लगाया जाना चाहिए।

सरकार द्वारा आईपीएल की धाय की तरह लालन-पालन का फायदा किसको मिला है? इनमें दूसरे लोगों के अलावा वे चार अरबपति भी शामिल हैं जिनके नाम 2010 के *फोर्ब्स* पत्रिका में अरबपतियों की सूची में शुमार है। इनमें से तीन व्यक्ति टीमों के मालिक हैं और एक मुख्य प्रायोजक है। ये सभी डॉलर अरबपति हैं और *फोर्ब्स* की सूची में लम्बे समय से बने हुए हैं। उसके बाद हैं बॉलीवुड स्टार की शक्ल में महज करोड़पति। इनके जैसे लोगों के सामने सरकारें दण्डवत करतीं हैं और उन्हें कई तरह की छूट देती हैं। यहाँ तक कि इसके लिए वे इस बढ़ती भुखमरी के दौर में भी खाद्य सहायता राशि में कटौती करती हैं। देर-देर तक पार्टियों में रंगरलियाँ मनाना आईपीएल के तमाशे का अभिन्न अंग है। देखने की बात केवल यह होती है कि इसके लिए पैसा कौन चुकाता है। नुक्कड़-चौराहे के लोगों ने आईपीएल का नाम रखा है– इण्डियन पैसा लीग या सीधे तौर पर इण्डियन पैसा लूट।

बीसीसीआई और आईपीएल प्रचार से होने वाली विशाल आमदनी को नियंत्रित करते हैं इसलिए आईपीएल जब रिपोर्टिंग सम्बन्धी रोक लगाकर मीडिया को नाराज भी करती है तो मीडिया उसके आगे नाक रगड़ता है। इस तरह लम्बी चुप्पी जारी रहती है। जो कुछ भी हो रहा है उस पर (कोची संकट आने तक) सबसे तीखी प्रतिक्रिया खेलमंत्री एम.एस.गिल की तरफ से आयी है जो पुराने जमाने के क्रिकेट-प्रेमी हैं और वास्तव में इस खेल को लेकर चिन्तित हैं। ऐसी कोई चिन्ता मीडिया की ओर से नहीं आयी है, जो इस आईपीएल की रिपोर्टिंग करता है। उन्होंने करों में छूट और सुरक्षा सब्सिडी की आलोचना की है जिसके चलते आईपीएल मैच के दौरान शहर की सार्वजनिक सुरक्षा बुरी तरह से प्रभावित हो जाती है। यह इशारा करना महत्त्वपूर्ण है कि श्री गिल एक ऐसे मंत्री हैं (उन चार मंत्रियों में से एक जो इस ड्रामा के सन्दर्भ में टीवी पर दिखायी दिये) जो वैद्य रूप से खेल से जुड़े हुए हैं और किसी घोटाले के दागी नहीं हैं। लेकिन शायद यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि आईपीएल का खेल से कोई लेना-देना नहीं है।

खेलमंत्री ने काफी पहले बताया था कि बीसीसीआई-आईपीएल के ऊपरी स्तर के लोगों में स्वार्थों का खतरनाक टकराव चल रहा है। उन्होंने टीवी पर करन थापर को दिये गये साक्षात्कार में बताया था कि "करों में छूट" (आईपीएल को कर माफी) का विचार उन्हें बिलकुल स्वीकार नहीं है। "हमारा देश गरीब है और इसे मैं कभी नहीं भूलता। इस साल भी बजट भारी घाटे में है... ।" उन्होंने आगे कहा कि "जब इन टीमों से, चाहे इनका ढांचा जैसा भी हो, पूँजीपति कमाई कर रहे हैं तो मेरी राय है कि कानूनी रूप से निर्धारित कर वसूला जाना चाहिए और इसे देश के लिए, चाहे दूसरे खेलों के लिए ही सही, उपयोग में लाना चाहिए।" ऐसा करना तो दूर, उल्टे हम जनता से कर वसूलते हैं और इसे अरबपतियों को थमा दे रहे हैं।

शहरों के आग बुझाने वाले दस्ते (फायर ब्रिगेड) ने आईपीएल के "हॉस्पिटैलिटी बॉक्स" (जिसमें एक सीट का टिकट 40,000 रुपये तक है) में आग लगने के खतरे से सम्बन्धित जो आपत्तियाँ की थीं उन्हें या तो अनसुना कर दिया गया या उन्हें अमान्य कर दिया गया। लेकिन ऐसे टिकट आपको मौका दे सकते हैं कि आप किसी आईपीएल स्टार के साथ देर रात की पार्टी में ऐश करें, या फिर इसी प्रकार कोई संदिग्ध लाभ भी आपको मिल सकता है। कुछ लोगों ने यह सवाल भी उठाया है कि ऐसी पार्टियों का खिलाड़ी की खेल-क्षमता पर अगले दिन प्रभाव पड़ सकता है। लेकिन फिर भी ऐसी पार्टियाँ बदस्तूर जारी हैं। "क्रिकेट के पीछे पागल जनता" के जीवन से, जिसकी रुचियों को हवा देकर खेल में हो रहे हर बदलाव की ओर मोड़ा जा रहा है, भला और क्या छीना जा सकता है। आईपीएल जनता के लिए सस्ता सौदा नहीं है।

–शेष पृष्ठ 16 पर

कॉमनवेल्थ गेम्स : निर्माण-मजदूरों की दुर्दशा

□दिनेश

जिन्दा रहने और अगले दिन काम कर पाने भर भोजन, तन ढकने के लिए थोड़ा कपड़ा, रहने के लिए अस्तबल से भी खराब बाड़ा, पैरों में बेड़ियाँ ताकि भाग न जाये, गले में कांसे का पट्टा, विरोध करने पर कोड़ों की मार, कीमत दो भेड़ों से भी कम। ये है उन गुलामों की तस्वीर जिनके खून और मज्जे से रोम की आलीसान इमारतों का निर्माण हुआ। जिनके खून पसीने ने रोम को महानता प्रदान की थी और उन्होंने मिस्र के सम्राट के लिए ऐसे पिरामिड बनाए जिनकी दुनिया में कोई मिसाल नहीं।

इसी वर्ष अक्टूबर माह में होने वाले कॉमनवेल्थ खेलों के लिए निर्माण स्थलों पर काम करने वाले दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति ऊपर वर्णित गुलामों जैसी नहीं है। इन नये गुलामों की स्थिति कई मामलों में रोम और मिस्र के गुलामों से भी बदतर है। दिल्ली को स्वर्ग बनाने की तैयारी जोरो पर है। ज्यादा चौड़ी छः लेन की सड़कें, सुन्दर फुटपाथ, सड़क पार करने के लिए सब-वे, बड़े-बड़े फ्लाईओवर, आलीशान रिहायशी बंगले, पांच सितारा होटल और विश्व स्तर के स्टेडियम का निर्माण हो रहा है। भारतीय शासकों के विदेशी मेहमानों को यदि कोई असुविधा हुई या उन्हें शहर पसन्द नहीं आया तो इनकी नाक कट जायेगी।

विदेशी पूँजीनिवेश को लुभाने के लिए उन्हें यह दिखाना जरूरी है कि भारत बहुत तेजी से विकास कर रहा है और यह नंगे-भूखे कंगालों का देश नहीं है। लेकिन असलियत कुछ और ही है। निर्माण कार्य में लगे मजदूरों की दयनीय स्थिति को देखकर ही हम इसका अनुमान लगा सकते हैं। अभी हाल ही में पीपुल्स यूनियन फोर डेमोक्रेटिक राइट ने दिल्ली उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की थी। इसमें कॉमनवेल्थ गेम्स के लिए निर्माण कार्य में लगे मजदूरों की नारकीय स्थिति का ब्योरा देते हुए न्यायालय से हस्तक्षेप की माँग की गयी थी। दिल्ली उच्च न्यायलय ने याचिका को स्वीकार करते हुए चार सदस्यीय कमेटी की स्थिति की जाँच पड़ताल करने का आदेश दिया था। इस कमेटी ने दस निर्माण स्थलों पर जाँच पड़ताल करके अपनी 116 पृष्ठों की रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में याचिकाकर्ताओं के आरोपों को सही ठहराते हुए कहा गया है कि सरकार द्वारा नियुक्त निर्माण कम्पनियाँ मजदूरों को उचित वेतन, पर्याप्त आवास, जरूरी उपकरण और चिकित्सा सुविधा नहीं दे रही हैं। इन कम्पनियों ने सभी नियम कानूनों को ताक पर रख दिया है।

निर्माण स्थलों पर कार्यरत कुल 4 लाख 15 हजार मजदूर उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ और राजस्थान से आये हैं। इनमें अधिकांश लोग लेबर सप्लाई करने वाले ठेकेदारों द्वारा लाये गये हैं। इन लेबर ठेकेदारों के पास लाइसेन्स नहीं है। मजदूरों के लिए निर्धारित "विस्थापन भत्ता" भी ये नहीं देते। इन राज्यों में रोजगार के अवसर नहीं होने के कारण ये लोग खराब से खराब शर्तों और हालातों में काम करने को मजबूर हैं। ठेकेदार उन्हें अमानवीय परिस्थितियों में जीने को मजबूर करते हैं। इनके रहने की जगह इतनी घटिया है कि सभ्य समाज में वहाँ पशुओं को भी रखने की इजाजत नहीं है। इन मजदूरों के लिए टीन की चादरों से ढकी, नीची छत वाली छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं जो सर्दी में बेहद ठंडी होती हैं और गर्मियों में तपकर भट्ठी बन जाती हैं। इतनी खराब हालत में आदमी का जिन्दा रहना बहुत ही मुश्किल हैं। इन कोठरियों में दरवाजे नहीं हैं, बिजली की व्यवस्था नहीं है और कई जगह तो स्थिति यह है कि 55 से 60 मजदूरों के बीच केवल एक ही शौचालय है, गन्दे और बदबूदार। यहाँ तक कि पीने का साफ पानी भी उपलब्ध नहीं है।

दिल्ली उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार कॉमनवेल्थ खेलों के लिए होने वाले निर्माण स्थलों पर अब तक विभिन्न दुर्घटनाओं में 48 से ज्यादा मजदूरों की मौत हो चुकी है। एक अन्य रिपोर्ट के मुताबिक मृतकों की संख्या 70 है। जाहिर है कि मृतकों की वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा है। क्योंकि अधिकांश दुर्घटनाओं की रपट नहीं लिखायी जाती। इसके अलावा दुर्घटनाओं के कारण होने वाली स्थायी और अस्थायी विकलांगता का कोई जिक्र नहीं है, जबकि कई लोग इसके कारण रोजी-रोटी कमाने की अपनी क्षमता खो चुके हैं। अधिकांश दुर्घटनाओं के पीछे मजदूरों को कार्य-स्थल पर आवश्यक सुरक्षा सामग्री उपलब्ध नहीं होने के कारण हुई। किसी भी निर्माण स्थल पर चिकित्सा सुविधा उपलब्ध नहीं हैं। सही समय पर चिकित्सा नहीं मिलने के कारण दुर्घटनाग्रस्त मजदूरों की मौत के आसार बढ़ जाते हैं। इन सुविधाओं की जिम्मेदारी निर्माण ठेकेदारों की होती है। जो पैसा बचाने के लोभ में मजदूरों की जान से खेलते हैं।

निर्माण स्थल पर काम करने वाले मजदूरों को पूरी मजदूरी भी नहीं दी जाती है। दिल्ली सरकार के अनुसार किसी भी अकुशल

मजदूर को आठ घण्टे काम के बदले न्यूनतम दैनिक मजदूरी 152 रुपये होनी चाहिए, जबकि इन निर्माण स्थलों पर कुशल मजदूरों को 120 से 130 रुपये और अकुशल मजदूरों को 85 से 100 रुपये दिहाड़ी दी जाती है। कुछ मजदूरों का कहना है कि उनसे 12-12 घण्टे काम कराया जा रहा है और इसके लिए 135 से 150 रुपये दिए जा रहे हैं। जिसमें ओवर टाइम भी शामिल है। इन निर्माण स्थलों की सीमा के भीतर कोई कानून लागू नहीं होता। ठेकेदार, कॉन्ट्रेक्टर या रीयल इस्टेट कम्पनियाँ जो चाहती हैं वही कानून है। यहाँ कामगारों के साथ गाली-गलौज, अभद्र व्यवहार, हाथापाई और मारपीट आम बात हैं। मजदूरों को वेतन सहित साप्ताहिक छुट्टी नहीं है। अपनी मर्जी से कोई छुट्टी नहीं कर सकता क्योंकि उसे काम से निकालने और बकाया मजदूरी न देने की धमकी दी जाती है। मजदूरों से बर्बर तरीके से काम लिया जाता हैं। यदि कोई मजदूर अचानक बीमार पड़ जाता है तो भी उसे छुट्टी नहीं मिलती। बीमारी में भी उससे जबरन काम कराया जाता है। यहाँ किसी भी बाहरी आदमी के मजदूरों से मिलने पर रोक है। जिससे कि कोई जानकारी बाहर न जाने पाये और कोई बुरी दशा को न देख ले। किसी भी आने वाले बाहरी व्यक्ति को सुरक्षा के बहाने रोक लिया जाता है। मजदूर बाहरी दुनिया से कटे हुए निर्माण स्थल की सीमाओं में कैद रहते हैं।

महिला मजदूरों और बच्चों की दशा तो और भी पीड़ादायी है। महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। उनके बच्चों के लिए कोई पालनाघर नहीं है। उन्हें मजदूरी के साथ-साथ बच्चों की देखभाल भी करनी पड़ती है। बच्चे निर्माण स्थल के पास धूल-गर्द, कंकड़-पत्थर और गन्दगी में ही रहते हैं जहाँ अक्सर उन्हें चोट लगती रहती है और हमेशा उनकी जान का खतरा बना रहता है। कई जगह तो पूरा का पूरा परिवार ही अपने घर से उजड़कर आया हुआ है। स्थायी ठिकाना न होने के चलते इनके बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की कोई सुविधा नहीं है। कम उम्र में ही बच्चे भी माँ-बाप के साथ काम करते हैं या माँ-बाप के काम में सहायता करते हैं। इन्हें कोई मेहनताना नहीं दिया जाता। जिस समय इन बच्चों के हाथ में खिलौने और स्लेट-पेंसिल होनी चाहिए उस उम्र में वे कठिन काम करने लगते हैं। इनका बचपन छीन लिया गया है और कंक्रीट के जंगल में जीवन बिताने को मजबूर कर दिया जाता है। जाहिर है कि उनका भविष्य भी उनके समान ही दर-दर की ठोकरें खाना और दूसरों की विलासिता के लिए स्वर्ग का निर्माण करना ही है।

देश की राजधानी में जहाँ लोकतंत्र के चारों स्तम्भों के शिखर पुरुष मौजूद हैं उनकी नाक के नीचे मजदूरों के साथ अमानुषिक व्यवहार निर्बाध रूप से जारी है। किसी भी राजनैतिक पार्टी को उनकी चिन्ता नहीं। किसी का उनसे कोई सरोकार नहीं। कॉमनवेल्थ खेलों में मेहमानों को गोमांस परोसने के फैसले पर बवाल हो सकता है, लेकिन मजदूरों के परम शोषण, नारकीय जिन्दगी और गुमनाम मौत कोई मुद्दा नहीं है। कारण स्पष्ट है। रोम के गुलामों के मालिकों के बीच आपस में चाहे जितने भी तकरार होते हों, ग्लेडियेटरों की दशा किसी को बेचैन नहीं करती थी। गुलाम उनकी निगाह में बोलने वाली मशीन मात्र थे। लेकिन उन्हीं गुलामों में एक स्पार्टकस भी था। हजारों करोड़ खर्च करके कॉमनवेल्थ खेलों में भाग लेने वाले 85 देशों के 5000 से अधिक खिलाड़ियों के स्वागत की तैयारी हो रही है। हमारे शासकों को साबित करना है कि वह अन्तरराष्ट्रीय स्तर के आयोजनों की मेजबानी कर सकता है। किसी के लिए यह गर्व का विषय हो सकता है। लेकिन जिनकी निगाह में निर्माण कार्य में लगे लाखों मजदूरों की दुर्दशा है उनके लिए यह राष्ट्रीय शर्म का विषय है। क्योंकि लाखों मजदूरों के अमानुषिक शोषण और 70 प्रतिशत मजदूरों की लाश पर यह खेल चलाया जायेगा।

❑

टेलीविजन की विशेषताओं में से एक यह है कि आप इसे चलाते हैं और फिर जो कुछ आता है जिसका अर्थ है दर्शक की एक जबर्दश्त निष्क्रिय भूमिका। इसमें कोई मतलब कि इस चीज से क्या बाहर आ रहा है - यह किसी विदेशी भाषा का कार्यक्रम हो सकता है, हो सकता है ऐसा कुछ जिसमें किसी की कोई दिलचस्पी न हो। और ऐसा कोई उत्तेजक जिसके प्रति आप वस्तुतः कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रहे हैं, आपको सुला देगा। यह ऐसा हैं जैसे कोई आपको धमकी दे रहा हो..... कुछ जो आपको उत्प्रेरित नहीं करता, आपको प्रतिक्रिया करने के लिए उत्तेजित नहीं करता, बल्कि महज मानसिक रूप से सक्रिय होने की आवश्यकता को नष्ट कर देता है। आपका दिमाग एक अप्रतिबद्ध तरीके से व्यस्त रखा जाता है। इंद्रियाँ जिन पर अन्यथा कुछ सक्रिय करने का दायित्व होता है, व्यस्त कर दी जाती हैं।

-रूडोल्फ आर्नहीम

प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा बिल की असलियत

❑नवनीत

पिछले चुनाव में कांग्रेस पार्टी ने खाद्य सुरक्षा कानून बनाने का वादा किया था। इस चुनावी वादे को अमली जामा पहनाने के लिए सरकार ने खाद्य सुरक्षा बिल प्रस्तावित किया है। इस बिल के मुताबिक गरीबी रेखा के नीचे जी रहे परिवारों को हर महीने 25 किलो चावल या गेहूँ 3 रुपये किलो के भाव से दिया जायेगा। ऊपर से देखने में यह बिल बड़ा ही लुभावना लगता है, लेकिन इसकी वास्तविक सच्चाई का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अन्त्योदय अन्न योजना में सरकार गरीबों को 2 रुपये किलो के भाव से 35 किलो अनाज उपलब्ध कराती थी। लेकिन इस प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा बिल के तहत उन्हें 25 किलो अनाज 3 रुपये प्रति किलो के भाव से दिया जायेगा।

इस तरह सरकार पहले से जारी कदमों को कानूनी जामा पहनाना चाहती है वह भी दो कदम पीछे हटकर। इस बिल के तहत सरकार फर्जी तरीके से गरीबों की संख्या में भी कमी करना चाहती है। केन्द्र सरकार ने राज्यों से कहा है कि वे गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों की मौजूदा संख्या को घटाने का प्रयास करें। हमारे देश में गरीब और गरीबी की परिभाषा अभी तक तय नहीं है। केन्द्र सरकार के अनुसार इस समय 6.52 करोड़ गरीब परिवार हैं जिसे घटाकर 5.91 करोड़ करवाना चाहती है, जबकि राज्यों ने पूरे देश में 11.03 करोड़ परिवारों को बीपीएल कार्ड जारी कर रखा है। अर्जुन सेन गुप्ता कमेटी के अनुसार 77 प्रतिशत जनता यानी 83.6 करोड़ लोग 20 रुपये रोज से कम पर गुजारा करते हैं। इस हिसाब से अनुमान लगाया जाय तो देश में 16 करोड़ से अधिक परिवार गरीबी रेखा के नीचे होंगे। सरकार गरीबों की संख्या कम दिखाकर करोड़ों परिवारों को मौत के मुँह में धकेल देना चाहती है।

हमारे देश में भुखमरी और कुपोषण क्यों है? क्यों यह लगातार बढ़ती जा रही है? सरकार ने भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) के ढाँचे को कमजोर बना दिया और उसके गोदामों में पड़े अनाज के भण्डार को धीरे-धीरे न्यूनतम स्तर पर ला दिया। सरकारी खरीद को जानबूझकर घटाया गया तथा निजी जमाखोरों और सट्टेबाजों को अनाज के व्यापार में बढ़ावा दिया है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के जरिये गरीबों को सस्ता अनाज देने की व्यवस्था थी, इसे तहस-नहस कर दिया गया। गरीबी रेखा से नीचे व ऊपर के कार्डधारियों को दिये जाने वाले अनाज में कटौती की गयी और अनाज की कीमतें भी बढ़ा दी गयी।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जरिये 42 प्रतिशत गरीबों तक सस्ता अनाज पहुँच पाता है। बाकी हिस्सा भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता था। इसके ताजा उदाहरण अभी भी देखने को मिल जाते हैं। नोएडा से सटे निठारी गाँव के पूर्व प्रधान विक्रम सिंह के पास करोड़ों की सम्पत्ति है, लेकिन साथ ही उनके पास गरीबी रेखा से नीचे का बीपीएल कार्ड भी है। नये मानक के हिसाब से गाँवों में 1652 रुपये और शहरों में 2128 रुपये से कम मासिक आय वाले व्यक्ति ही बीपीएल कार्ड लेने के हकदार हैं। ऐसे करोड़पतियों की संख्या हमारे देश में बहुत ज्यादा है जो बीपीएल कार्ड धारक हैं। कैसी बिडम्बना है करोड़पतियों के पास बीपीएल कार्ड हैं, लेकिन भिखारियों को इससे बाहर रखा गया है। सरकार का सबको भोजन की गारन्टी का वायदा करना कितना मजाकिया है।

भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई और उसे सुधारने के बजाय सरकार उसके सामने आत्मसमर्पण कर रही है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को हटाकर खाद्य सुरक्षा बिल के तहत् सरकार खाद्य कूपन योजना लाने पर विचार कर रही है। इस योजना के तहत गरीबों में खाद्य कूपन बाँटे जायेंगे। गरीब लोग देशी-विदेशी व्यापारियों द्वारा संचालित दुकानों से इस कूपन के बदले अनाज प्राप्त करेंगे। सार्वजनिक वितरण प्रणाली और खाद्य सब्सिडी को खत्म करने के लिए कई देशों में यह योजना शुरू की गयी। लेकिन अमरीका जैसे देश में भी यह योजना सफल नहीं हो सकी। इस योजना में अन्य दिक्कतें भी हैं, जैसे- सरकार नियमित रूप से कूपन जारी नहीं करना चाहती और अक्सर खुदरा दुकानदार उन्हें लेना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें भुनाना एक समस्या है। इस योजना के जरिये सरकार गरीबों को बेरहम बाजार की शक्तियों के हवाले कर देना चाहती है। वह किसके पाले में खड़ी है?

खाद्य सुरक्षा को लेकर की गयी सरकारी कार-गुजारियों का ही नतीजा है कि विश्व भूख सूचकांक में 88 देशों की सूची में भारत का स्थान 60वाँ है। भुखमरी के मामले में हम अफ्रीका के कई देशों से भी आगे निकल चुके हैं। यूनीसेफ के ताजा अध्ययन के अनुसार भारत में रोज 5000 मासूम बच्चे भूख से तिलमिलाकर दम तोड़ देते हैं। गरीबी और भुखमरी एक अभिशाप है। भयानक भूख से पेट में जो असहनीय दर्द होता है उसे खाये-अघाये लोग भला कैसे महसूस कर सकते हैं। खाली पेट से कई तरह की संक्रामक बीमारियाँ हो जाती हैं, क्योंकि भूख और कुपोषण बीमारियों से

लड़ने की क्षमता को काफी कम कर देता है। भूख और कुपोषण से पीड़ित व्यक्ति टीबी, डायरिया, पेट में जख्म और पेट की अन्य बीमारियों की चपेट में आकर दम तोड़ देता है।

1991 से जारी उदारीकरण की नीतियों से खेती-किसानी तबाह और बर्बाद हो गयी। बीज, उर्वरक, कीटनाशक, बिजली और पानी के निजीकरण के चलते इनका व्यापार करने वाली कम्पनियाँ तो मालामाल हो गयीं लेकिन किसान कंगाल हो गये। महँगे निवेश के बावजूद किसानों को उनकी फसल का वाजिब दाम नहीं मिल सका। क्योंकि अनाज के व्यापार पर आज देशी-विदेशी कम्पनियों का कब्जा है जो किसानों को अपने उत्पाद कम दाम में बेचने को मजबूर करती है। हमारे देश में आधी से अधिक आबादी खेती-किसानी पर निर्भर है। सरकार की आर्थिक नीतियाँ उन्हें तबाह कर रही हैं। जिस देश के अनाज पैदा करने वाले खुद ही संकट में हों, क्या वहाँ खाद्य सुरक्षा की गारन्टी दी जा सकती है?

विदेशी कम्पनियों के पाँव पसारने से लाखों छोटी देशी कम्पनियाँ बन्द हो गयीं जिससे करोड़ों मजदूर सड़क पर आ गये। इसी तरह खुदरा व्यापार में निजी कम्पनियों के आने से लाखों की संख्या में छोटे-मझोले दुकानदार उजड़ गये। इस पर भी बढ़ती महँगाई ने लोगों का जीना मुहाल कर रखा है। सरकार महँगाई कम करने के नाम पर झूठे आश्वासनों के अलावा कुछ नहीं कर रही है।

खाद्य सुरक्षा बिल पर एक और पहलू से विचार करना आवश्यक है। चार आदमियों के परिवार के लिए महीने में कम से कम 56 किलो अनाज चाहिए। इसके साथ खाने में पौष्टिकता के लिए पाँच किलो दाल, चार लीटर खाद्य तेल, 30 लीटर दूध या प्रोटीन का अन्य स्रोत और लगभग 15 किलो सब्जियाँ भी चाहिए। सम्मानजनक जिन्दगी के लिए रहने के लिए घर, पहनने को कपड़ा, बीमार होने पर दवा और शिक्षा भी मिलनी चाहिए। क्या गरीब आदमी के लिए इन सब चीजों की जरुरत नहीं? गरीब जनता को मात्र 25 किलो अनाज देकर क्या सरकार को यह भय तो नहीं सता रहा है कि इतनी बड़ी संख्या में कंगाल-बदहाल लोग उसके सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न न कर दें। खाद्य सुरक्षा बिल किसी सदाशयता का नहीं, बल्कि इसी भय की उपज है।

सच पूछिये तो गरीबी-भुखमरी बढ़ने की असली जिम्मेदार सरकार की आर्थिक नीतियाँ हैं और उसने खूब सोच समझकर ये नीतियाँ लागू की हैं। अब सरकार खाद्य सुरक्षा बिल पास करके भुखमरी और कुपोषण मिटाने का ढकोसला करने जा रही है। चाहे 25 किलो अनाज योजना हो या खाद्य कूपन योजना, लोगों को सम्मानजनक रोजगार और जिन्दगी देने के बजाय उन्हें भिखमंगा बनाया जा रहा है। जो अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के बजाय सरकार के सामने विनम्र याचक बनकर हाथ फैलाए खड़े रहेंगे। सरकार की यही मन्शा है। वह वास्तव में गरीबी उन्मूलन नहीं करना चाहती। अन्यथा अगर ऐसी मन्शा होती तो सबसे पहले जनविरोधी नीतियों को खत्म करती। गरीबी को बनाये रखते हुए सरकार धोखे भरे कानून बनाकर गरीबों का मसीहा बनना चाहती है।

❑

मौत के सौदागर

देश में नकली दवाओं का धन्धा बहुत तेजी से फल-फूल रहा है। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश में लखनऊ राज्य विश्लेषक लैब की 2009-2010 की ताजा रिपोर्ट में यह मामला प्रकाश में आया है। दवा कम्पनियाँ जानी मानी दवाओं के ब्राण्ड नाम पर नकली दवाएँ बना रही हैं। लखनऊ स्थित राज्य विश्लेषक लैब और कोलकाता की सीडीएल लैब को विभिन्न दवाओं के पैंतीस सौ नमूने भेजे गये। रिपोर्ट के अनुसार 27 दवा कम्पनियों की 24 दवाएँ फर्जी और 103 दवाएँ एकदम घटिया दर्जे की पायी गयी। इनमें ज्यादातर सामान्य प्रयोग की एन्टीबायोटिक और सर्दी, खाँसी की दवाएँ हैं। नकली दवा के व्यापारियों में से कुछ के अपने मेडिकल स्टोर भी हैं।

एक तरफ तो सरकार जन स्वास्थ्य की बड़ी-बड़ी बातें करती है, दूसरी तरफ उनकी नाक के नीचे दवा के नाम पर धड़ल्ले से जहर बेचा जा रहा है। जहर के इन व्यापारियों के विरुद्ध सरकार कोई कार्रवाई नहीं कर रही है। सरकार का न्याय भी जेब के वजन से तय हो रहा है। सच ही है कि जब कोई व्यवस्था अपने पतन की चरम सीमा पर होती है तो न्याय-अन्याय, मानवीयता-अमानवीयता उसके लिए कोई ज्यादा मायने नहीं रखती। मुनाफे के भूखे भेड़ियों को आम आदमी की मौत में भी सिक्कों की खनकं ही सुनाई देती है। वे मुनाफे की हवस में किसी भी हद तक नीचे गिर सकते हैं। चाहे इसकी कीमत बेगुनाहों की मौत ही क्यों न हो।

पुलिस का अपराधीकरण

□अभिलाष वर्मा

इसी वर्ष मार्च में पानीपत में स्पेशल टास्क फोर्स (एसटीएफ) के पुलिस अधिकारी और सात अन्य पुलिस कर्मियों के खिलाफ "धमकाने और लूटने" का मुकदमा दर्ज हुआ। उन पर आरोप है कि उन्होंने एक ज्वेलर को धमकाकर उससे दस लाख रुपये की माँग की थी। उसने एक लाख रुपये तुरन्त देकर बाकी नौ लाख रुपये बाद में देने का वायदा किया था। इन सभी कार्रवाइयों को उसने सीसीटीवी कैमरे में कैद कर लिया था। इससे पहले भी किसी शेयर ब्रोकर ने शिकायत की थी कि एसटीएफ की टीम ने उससे दस लाख रुपये वसूल किये हैं।

12 अप्रैल को उत्तर प्रदेश के थाना बहादुरगढ़ में धीरेन्द्र नामक नौजवान की पुलिस हिरासत में मृत्यु हो गयी। धीरेन्द्र को पुलिस ने गिरफ्तार कर उत्पीड़ित किया जिसके कारण उसने दम तोड़ दिया। थानाध्यक्ष ने बताया कि उसने आत्महत्या की है और खुद लॉकअप की चाबी लेकर फरार हो गया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट बताती है कि उसकी मौत पिटाई और दम घुटने से हुई है। उसके शरीर पर चोट के निशान भी पाये गये।

आजादी के छः दशक बाद भी हमारे देश की पुलिस व्यवस्था अंग्रेजी-शासन जैसी ही क्रूर और नृशंस है। आम आदमी को अपने जीवन में आये दिन इसका सामना करना पड़ता है। पुलिस जुल्म की कई घटनाओं में तो हमारे आजाद देश की पुलिस अंग्रेजी राज की पुलिस को पीछे छोड़ती दिखाई देती है। एक बार अखबारों और टीवी चैनलों पर बिहार पुलिस की एक ऐसी करतूत दिखायी गयी थी जिसमें पुलिसवाले एक युवक को मोटरसाईकिल के पीछे बाँधकर घसीट रहे थे। आये दिन हत्या, लूट, डकैती, अपहरण व बलात्कार जैसे जघन्यतम अपराधों में पुलिस के शामिल होने की खबरें आती रहती हैं। यहाँ तक कि आम आदमी आज अपराधियों के बजाय पुलिस से ज्यादा भयभीत है। कहावत है कि पुलिस से "दोस्ती और दुश्मनी" दोनों ही भारी पड़ती है और यह काफी हद तक सही भी है। पुलिस मुठभेड़, थर्ड डिग्री उत्पीड़न और हिरासत में मौत तो जैसे पुलिस की कार्य प्रणाली का जरूरी हिस्सा हो गया है। समाज ने भी अब इसे लगभग स्वीकार कर लिया है। ऐसी खबरें किसी को बेचैन नहीं करती। ज्यादातर मामलों में कोई हो-हल्ला नहीं मचाता, सिवाय उस जुल्म के शिकार व्यक्ति के करीबी रिश्तेदारों के जिन्हें डरा-धमकाकर चुप करा दिया जाता है।

भारत सरकार ने 1997 में उत्पीड़न और अन्य नृशंस, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार या सजा के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र संघ सम्मेलन पर हस्ताक्षर किया था, लेकिन आज तक इसे कानूनी रूप देने की ओर कदम नहीं बढ़ाया। इसी बीच पुलिस की अमानवीयता और क्रूरता बेलगाम बढ़ती गयी।

1994 से 2008 के बीच देश भर में पुलिस हिरासत में 16836 मौतें हुई यानी औसतन हर साल 1203 और हर महीने 100 आदमी पुलिस हिरासत में मारे गये। 2000-01 में 1037 लोगों की पुलिस हिरासत में मृत्यु हुई थी, जबकि 2007-08 में बढ़कर 1977 हो गयी। अप्रैल 2007 से मार्च 2009 यानी दो साल के अन्दर सबसे ज्यादा महाराष्ट्र में 192, उत्तर प्रदेश में 128, गुजरात में 113, आन्ध्र प्रदेश में 85, झारखण्ड में 29, छत्तीसगढ़ में 23, असम में 74, पश्चिम बंगाल में 83, मेघालय में 16, अरुणाचल प्रदेश में 11, त्रिपुरा में 9, उत्तराखण्ड में 10, हिमाचल प्रदेश में 2 व जम्मू-कश्मीर में 9 लोगों की पुलिस हिरासत में मौत हुई। उत्तर प्रदेश में 2009 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पास जितनी शिकायतें मिलीं, उनमें आधे से अधिक मामले पुलिस उत्पीड़न के थे। ये सभी आँकड़े सरकारी हैं। वास्तविकता इससे कहीं ज्यादा भयावह है। ऐसे लोगों की तो कोई गिनती ही नहीं जो पुलिस की थर्ड डिग्री से मरते तो नहीं लेकिन जिन्दा लाश में बदल जाते हैं। पिछले बीस-पच्चीस सालों के दौरान ऐसी घटनाएँ बहुत तेजी से बढ़ी हैं। अपराधियों के साथ ही नहीं बल्कि लोकतांत्रिक तरीके से अपनी जायज माँग उठाने वाले लोगों को भी निर्ममतापूर्वक कुचल दिया जाता है। अंग्रेज मानसिकता वाला वर्तमान शासन-प्रशासन जनता के खिलाफ पुलिस-बल को उसी तरह अपने हक में इस्तेमाल करता है और उसी तरह उसे अधिकार और छूट देता है जैसे अंग्रेजी राज का जनरल डायर। आजाद भारत में कितनी ही बार "जलियाँवाला बाग काण्ड" की पुनरावृत्ति हुई। बेलाडीला, पन्तनगर, मलियाना, जैसे नरसंहार के असंख्य उदाहरण मौजूद हैं। किसी ने कहा है कि "अधिकार आदमी को भ्रष्ट करता है और पूर्ण अधिकार पूर्ण रूप से भ्रष्ट करता है।" पुलिस तंत्र के लोकतांत्रीकरण और उसमें सुधार की अक्सर चर्चा होती रहती है। उत्तर प्रदेश के पूर्व डीजीपी प्रकाश सिंह की जनहित याचिका पर सुनवाई पर 2006 में सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया था कि पुलिस

कार्यप्रणाली में सुधार किये जायें, लेकिन सरकार पर उसका कोई असर नहीं हुआ। इससे पहले भी जस्टिस मुतला कमेटी, रिबेरियो कमेटी, पद्मनभैया कमेटी, मलिमथ कमेटी और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के द्वारा समय-समय पर पुलिस-प्रणाली में सुधार के सुझाव दिये जाते रहे हैं। सैद्धान्तिक रूप में तो सरकार उन्हें स्वीकार लेती है, मीडिया में कुछ दिनों चर्चा भी होती है लेकिन व्यवहार में ये सुझाव गृहमंत्रालय के मालखाने में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं।

पिछले कुछ सालों से पुलिस-मुठभेड़ यानी "फर्जी मुठभेड़" जैसे पुलिस द्वारा हत्या किये जाने का पर्याय बन गया है। 31 मार्च 1997 को दिल्ली पुलिस के एसीपी ने कनाट प्लेस में सरेआम दो व्यापारियों को अपराधी बताकर मार गिराया था। 2 सितम्बर 2003 को उत्तर प्रदेश पुलिस ने सोनभद्र जिले में फर्जी मुठभेड़ में कई लोगों को मार डाला था। 15 जनवरी 2004 को अहमदाबाद के इशरत जहाँ और तीन अन्य लोगों की पुलिस ने मुठभेड़ के नाम पर हत्या कर दी थी। महाराष्ट्र में बिहार के छात्र राहुल राज को मुम्बई पुलिस ने सरेआम दिन-दहाड़े घेर कर मार डाला था। अभी कुछ समय पहले उत्तराखण्ड की राजधानी देहरादून में स्थानीय पुलिस ने रणबीर नाम के एक छात्र को फर्जी मुठभेड़ में मौत के घाट उतार दिया था। उत्तर पूर्व के राज्यों में तो हालात यह है कि पुलिस जब और जिसे चाहे उपद्रवी बताकर मार देती है। कितने ऐसे पुलिस अधिकारी हैं जो "एनकाउण्टर स्पेशलिस्ट" के नाम से जाने जाते हैं। फर्जी मुठभेड़ में अपराधी या निरपराध लोगों को मार कर पदोन्नति पाना इनकी विशेषता है। यहाँ तक कि इन्हें महिमामण्डित करने के लिए "अब तक छप्पन" जैसी दर्जनों फिल्में बन चुकी हैं।

इन मुठभेड़ विशेषज्ञों के बीच आपस में होड़ है कि कौन कितने आदमी मार सकता है। एक-दूसरे से आगे निकलने की दौड़ में ये मासूम लोगों को भी मार-गिराते हैं और अन्ततः एक-दूसरे को मारने से भी बाज नहीं आते। पंजाब में जब मासूम नौजवानों की जान लेने के किस्से एक-एक कर खुलने लगे तो इनमें से कुछ ने आत्महत्या कर ली। अपनी जिन्दगी में सैकड़ों आदमी मारने वाले इन जल्लादों को क्या इन्सान कहना उचित है? आतंकवाद के खात्मे के नाम पर पंजाब, कश्मीर, उत्तर-पूर्वी राज्यों और प्रभावित दूसरे इलाकों में फर्जी मुठभेड़ की कोई सीमा नहीं। कुछ 'डेयर डेविल' लोग इन नृशंस कार्रवाइयों को सफलता की सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करते हैं। फर्जी मुठभेड़ के अपने तर्क भी हैं। गुजरात के पूर्व अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक आर.बी. श्रीकुमार ने कहा था कि मुठभेड़ राजनीति का एक रणनीतिक हिस्सा है। "मुठभेड़ एक तयशुदा मर्डर के अलावा कुछ नहीं है।" 2002 के दंगों के दौरान गुजरात सरकार के मुख्य सचिव जी. एस. सुब्बाराव ने कहा था कि "हमें कुछ लोगों को इसलिए मार देना चाहिए ताकि लोगों में यह सिद्ध कर सकें कि पुलिस मजबूती से काम कर रही है।" इन्हीं के बीच सीधे-सादे कर्त्तव्यनिष्ठ पुलिसकर्मी भी हैं जिन्हें पूरी नौकरी के दौरान एक-दो पदोन्नति भी नहीं मिल पाती।

आजादी के बाद 1960-70 तक यदि देश के किसी कोने से पुलिस-अपराधियों के गठजोड़ की खबर आती थी तो वह बहुत बड़ी व अविश्वसनीय घटना मानी जाती थी। लेकिन आज स्थिति गम्भीर व भयानक है। अगर एसटीएफ (विशेष कार्यभार बल) का इन्चार्ज गिरोह बनाकर लूट मचाने लगे तो सोचिये कि हालात कितने भयावह हैं। लगता है जैसे दाऊद इब्राहिम और बखिया और गावली का धन्धा इन कानून के रखवालों ने अपने हाथों में ले लिया है। अब से लगभग आधी सदी पहले जस्टिस तेज नारायण मुल्ला ने कहा था कि "पुलिस एक संगठित गुण्डा-गिरोह है।" उनका यह कथन उस दौर में भले ही लोगों के गले नहीं उतरा हो लेकिन आज के पुलिस तंत्र के लिए यह एकदम सटीक है।

जब कोई अपराधी हत्या, लूट, डकैती करता है तो समझ में आता है कि उसकी आपराधिक मनोवृत्ति, लोभ-लालच, गुस्सा, नफरत या अपने बचाव का भय उसे तत्काल मरने-मारने को उकसाते हैं। लेकिन पुलिस किसी को उठाकर दो-तीन दिन अपने साथ रखकर बगैर किसी गुस्से या बदले की भावना के, ठण्डे दिमाग से उसे मार डालती है जो निश्चय ही अमानवीयता और बहशीपन की हद है। कोई जल्लाद अपनी जिन्दगी में मुश्किल से एक-दो सजायाफ्ता को फाँसी दे पाता है, इसके लिये वह अपने को कई दिन पहले से मानसिक और नैतिक रूप से तैयार करता है और इसे एक पवित्र कार्य के रूप से अन्जाम देता है। लेकिन एन्काउन्टर एक्सपर्ट?

सवाल यह है कि ऐसा क्यों? इसकी एक बड़ी वजह है वर्तमान समाज में व्यापक जनता की अलोकतांत्रिक, अराजनीतिक, तटस्थ और यथास्थितिवादी मानसिकता जिसके चलते वह इन कुकृत्यों का मौन समर्थन बन जाती है। आतंकवादी, उग्रवादी जब निर्दोष और निरपराध लोगों की जान लेते हैं तो उनके खिलाफ लोग अपने विरोध का प्रदर्शन खुल कर करते हैं, लेकिन राजसत्ता के मजबूत स्तम्भ पुलिस द्वारा हर साल हजारों बेगुनाह देशवासियों की हत्या और दमन-उत्पीड़न की घटनाओं पर हम चुप्पी साध लेते हैं। उल्टे उनकी नृशंस निरंकुश और गैर कानूनी कार्रवाइयों पर ताली बजाते हैं। इस आतंककारी माहौल में संवेदी पुलिस, मित्र पुलिस, जनता पुलिस की आँख-कान और संदेव आपके साथ, आपके लिये जैसे जुमले हास्यास्पद हैं। पुलिस जनता के सम्बन्धों में मधुरता का ढोंग भरकर जनता में खौफ बनाने का काम करते हैं।

दरअसल आज परिवार और समाज में ही लोकतान्त्रिक मूल्यों का अभाव हैं तो भला राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ क्या करेंगी? यदि समाज में घरेलू हिंसा, प्यार की सजा

मौत, अपने से कमजोर व्यक्ति को सताना, छोटे-छोटे अपराध के लिए लोगों के प्रति क्रूरतम व्यवहार या अन्य हिंसात्मक रवैय्ये को बढ़ावा दिया जा रहा हो तो पुलिस की दमनात्मक कार्रवाई का सहज में सहज स्वीकार्य होना स्वाभाविक है। दूसरी तरफ ताकतवर लोग और उनकी सरकार अपने खिलाफ उठने वाली हर आवाज को दबाने में जिस तरह पुलिस-बल का प्रयोग करती है, वह पुलिस के निरंकुश चरित्र को मजबूती और वैधता प्रदान करता है। इस स्थिति को बदलने के लिए व्यापक जनता की जागृति, संगठन और आंदोलन जरूरी है। लोक अधिकार और मानवाधिकार की हिफाजत के लिए जाँच रिपोर्ट, प्रेस विज्ञप्ति और प्रतिकात्मक विरोध अब तक कारगर नहीं हो पाये हैं। जन-जन में जनतांत्रिक अधिकारों की चेतना पैदा करके और उन अधिकारों की रक्षा के लिए निरन्तर संघर्ष करके ही इस निरंकुशता का मुकाबला किया जा सकता है। यह प्रश्न भारतीय समाज को सही मायने में जनतांत्रिक बनाने के गम्भीर प्रश्न का ही अनिवार्य अंग है।

❑

...पृष्ठ 9 का शेष

मुम्बई का अभिजात वर्ग अभी हाल ही में 'अर्थ आवर' में 60 मिनट तक सारे स्विच बन्द करके थोड़ी सी बिजली बचाकर घमण्ड से चूर था जबकि आईपीएल के सारे मैच यदि दिन में हों तो बिजली की भारी बचत की जा सकती है। निजी मुनाफा कमाने वालों के हित में इतनी ज्यादा बिजली की खपत करके सार्वजनिक धन को गटक जाना, वह भी इस मौसम में, जब महाराष्ट्र के मराठवाड़ा और विदर्भ क्षेत्रों में 12 से 15 घण्टों की बिजली कटौती हो रही हो, सचमुच सरकार के विद्रूप चेहरे को ही सामने लाता है। बिजली की यह कटौती गरीब लोगों के बच्चों के परीक्षा परिणामों को हमेशा बुरी तरह से तहस-नहस कर देता है। उन्हें शिक्षा का अधिकार (वह भी कागज पर) तो दे दिया गया है, लेकिन उन्हें बिजली का अधिकार नहीं है।

आईपीएल के साथ मीडिया की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति घनीभूत होकर सामने आयी है - मीडिया का ए बी सी, यानी एडवर्टाइजिंग (विज्ञापन), बॉलीवुड और कॉरपोरेट पावर (उद्योग जगत की ताकत)। उद्योग जगत के शीर्षस्थ लोग और बॉलीवुड के स्टार क्रिकेट टीमों के मालिक हैं। आईपीएल की एक टीम का मालिक एक अखबार है। अन्य कई अखबार आईपीएल टीमों के "मीडिया पार्टनर" हैं। कुछ बॉलीवुड स्टार अपनी फिल्मों के लिए टीवी चैनलों से "प्रचार का समझौता" किये हुए हैं, जो पैसे के ऐवज में उन फिल्मों के बारे में छद्म "समाचारों" की बाढ़ ला देते हैं। एक समय के राष्ट्रीय हीरो और क्रिकेट की हस्तियाँ आज फ्रेंचाइजी मालिकों के लिऐ"पूँजी की परिसम्पित्ति" बन गये हैं। एक समय तम्बाकू और शराब का प्रचार करने से इन्कार करके गर्व महसूस करने वाले आज इन चीजों के प्रचार के लिए गुपचुप तरीके अपनाते हैं और फ्रेंचाइजी मालिकों के साथ तरह-तरह से सम्बन्ध बनाये रखते हैं। एक जमाने का महान खेल आज हार्दिक प्रोत्साहन देने वाली आम जनता के हाथ से निकलकर पूँजी से नियंत्रित होने वाली और निजी सम्पत्ति बन गया है, एक राष्ट्रीय उमंग था, जो चरम मुनाफाखोरी के दुःस्वपन में तब्दील हो गया है।

❑अनुवाद : अरविन्द

...पृष्ठ 20 का शेष

आज अपने नग्न रूप में सामने आ रही है और "माओवादी खतरे" की आड़ लेकर लोकतांत्रिक शक्तियों, जन आन्दोलनों, जन पक्षधर बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को दमन का शिकार बना रही है। इसके लिए काले कानूनों, खुफिया तंत्र और निरंकुश पुलिस-अर्द्ध सैनिक और सैनिक बलों का सहारा लेने पर आमादा है।

जहाँ तक माओवादियों का प्रश्न है, उनका उद्देश्य चाहे जितना भी सही हो, उनका तौर तरीका सही नहीं है। राजनीति को सैन्य आक्रमण-प्रत्याक्रमण का पर्याय बना देना, शोषित-उत्पीड़ित जनता की ठोस माँगों पर आधारित व्यापक आन्दोलन संगठित करने की जगह कुछ इलाकों में अन्धाधुन्ध सशस्त्र कार्रवाईयों का संचालन करना उनके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक नहीं हो सकता। ऐसी कार्रवाइयाँ सरकार को शोषित-पीड़ित जनता के निर्मम दमन का बहाना और झूठा तर्क देती है। सरकार आज यही कर रही है। 'माओवाद' से लड़ने के नाम पर वह देश को पुलिस राज में तब्दील कर रही है। अपनी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी नीतियों को जारी रखने के लिए ऐसा करना उसकी जरूरत है। तभी वह देश के संसाधनों को देशी-विदेशी कम्पनियों के हवाले कर पायेगी।

सरकार द्वारा 'माओवादियों' के खिलाफ जारी इस युद्ध में आम जनता का ही खून बह रहा है। अपने ही देश के अभावग्रस्त, शोषित-पीड़ित और वंचित आदिवासी जनता के खिलाफ युद्ध थोपना कहाँ तक जायज है। इससे समस्या का समाधान नहीं होगा उल्टे सरकार इस देश को एक ऐसे गृह-युद्ध की ओर धकेल रही है जो रक्तबीज की तरह असंख्य विद्रोहियों को जन्म देगा। उत्तर-पूर्व और कश्मीर की तरह इस समस्या का समाधान भी बन्दूक के दम पर नहीं हो सकता, भले ही सरकार पूरे देश को फौजी छावनी में बदल दे।

आर्थिक नव-उपनिवेशवाद के इस दौर में सही मायने में जन आन्दोलनों को विकसित करना और स्वतः स्फूर्त रूप से उठ रहे आन्दोलनों को सही दिशा देना एक धैर्यपूर्ण और चुनौती भरा काम है। जब सरकार निर्मम दमन पर उतारू हो तो आन्दोलनों का आत्मघाती अतिवाद की ओर मुड़ने की पूरी सम्भावना होती है। साथ ही जब दमन की तुलना में प्रतिरोध कमजोर हो तो अधैर्य का शिकार होने की भरपूर सम्भावना होती है। लेकिन दुनिया का इतिहास गवाह है कि चन्द वीर नायक कभी भी इतिहास नहीं बनाते। जनता इतिहास का निर्माण करती है– इस ऐतिहासिक सच्चाई को ध्यान में रखते हुए इस कठिन दौर में अपनी चेतना और संगठन शक्ति को बढ़ाना ही आज जनपक्षधर शक्तियों के आगे सबसे बड़ी चुनौती है। ❑

जॉर्ज ऑरवेल के निरंकुश बिग ब्रदर की पदचाप

□विक्रम

केन्द्र सरकार ने देश भर में "राष्ट्रीय आबादी रजिस्टर" बनाने का काम शुरू कर दिया है। इसमें 15 वर्ष से ऊपर के सभी व्यक्तियों का रिकार्ड, हर व्यक्ति का नाम, माता-पिता का नाम, लिंग, जन्म तिथि, जन्म स्थान, स्थायी और वर्तमान पता, वैवाहिक स्थिति, विवाहित होने पर पति या पत्नी का नाम दर्ज होगा। साथ ही उनकी जैविक पहचान भी इसमें शामिल की जाएगी जिसके लिए एक फोटो और दोनों हाथों की अंगुलियों की छाप भी दर्ज की जायेगी। देश की सुरक्षा के नाम पर हर नागरिक पर राज्य की खुफिया निगरानी और नजर रखने के लिए आबादी रजिस्टर बनाने की इस योजना को गृह मंत्रालय ने हरी झण्डी दे दी है। इसे राष्ट्रीय खुफिया ग्रिड (नैटग्रिड), एकल पहचान संख्या (यूआईडी) और डीएनए बैंक की सूचनाओं के साथ जोड़ने की भी तैयारी है।

राष्ट्रीय खुफिया ग्रिड 21 श्रेणी के डाटाबेस से समेकित आँकड़ों तक पहुँचने में खुफिया ब्यूरो, रॉ, सीबीआई और राष्ट्रीय खुफिया एजेन्सी जैसी 11 खुफिया एजेन्सियों से भी सहयोग लेगा। 21 श्रेणी के डाटाबेस में रेलवे और हवाई यात्रा, आयकर, फोन कॉल्स, बैंक खाते का विवरण, क्रेडिट कार्ड से लेन-देन वीजा और आव्रजन रिकार्ड, सम्पत्ति का रिकार्ड और ड्राइविंग लाइसेन्स शामिल है। हर एक आदमी के बारे में उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी की सारी सूचनाएँ और एक-एक गतिविधियों की जानकारी इसमें दर्ज होंगी। इसके साथ आबादी रजिस्टर की सूचनाओं को भी जोड़ ले तो सरकार के पास हर व्यक्ति के बारे में इतनी जानकारी होगी, जितनी खुद उस व्यक्ति को भी पता नहीं होगा।

प्रचार माध्यमों, पत्र-पत्रिकाओं और अखबारों में एकल पहचान संख्या का इस तरह प्रचार किया जा रहा है, जैसे यह सरकारी सुविधाओं को जन-जन तक पहुँचाने, बैंक खाता खुलवाने, गैस कनेक्शन दिलवाने और हर तरह के सरकारी काम आसानी से करवाने का साधन है। इसका असली उद्देश्य, देश की सुरक्षा के नाम पर हर नागरिक को खुफिया तंत्र के अधीन लाने की बात पर पर्दा डाला जा रहा है दरअसल यह सारी कवायद देश के नागरिकों को संविधान द्वारा दिए गये मौलिक अधिकारों और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करने के लिए है तथा देश को पुलिस राज और निरंकुश तंत्र में बदलने की तैयारी का अंग है।

कैबिनेट मन्त्रियों की बैठक में भी कुछ मन्त्रियों ने इसकी गोपनीयता और राजनैतिक फायदे के लिए इसके दुरूपयोग को लेकर आशंका जाहिर की थी। उनकी चिन्ता यह थी कि अगर भविष्य में कांग्रेस के बजाय कोई दूसरी पार्टी सत्ता में आती है तो वह इसका दुरूपयोग हमारे खिलाफ करेगी। इसमें निहित है कि कांग्रेसी सरकार भी इसका दुरूपयोग करेगी। उन्हें अपनी तो चिन्ता है, लेकिन आम जनता की निजता और मौलिक अधिकार के हनन की चिन्ता नहीं है। इस पर सभी पार्टियों की एकता और सहमति है।

इस राष्ट्रीय आबादी रजिस्टर की तैयारी का काम जनगणना कानून-1948 के अनुरूप नहीं, बल्कि इसे नागरिकता कानून-1955 और नागरिकता नियम 2003 के आधार पर किया जा रहा है। जनगणना कानून 1948 में व्यक्ति की गोपनीयता की हिफाजत का प्रावधान है। इस कानून के अन्तर्गत जनसंख्या की गणना में लोगों की व्यक्तिगत सूचनाएँ शामिल नहीं है और जनगणना के आँकडों का सबूत के रूप में इस्तेमाल करना भी वर्जित है। इसलिए इन सूचनाओं को एकत्र करने के लिए संशोधित नागरिकता नियम 2003 का सहारा लिया जा रहा है जिसे बनाने का उद्देश्य ही एकल पहचान संख्या के लिए लोगों के बारे में सूचना एकत्र करने का रास्ता साफ करना था। बुनियादी सुविधाओं से वंचित देश की जिस बहुसंख्यक जनता को सरकार आज तक भर पेट भोजन पीने का साफ पानी और दवा-इलाज का इन्तजाम नहीं करवा पायी उसके बारे में खुफिया सूचनाएँ एकत्रित करने के लिए सरकार के पास धन की कमी नहीं है। इस साल के बजट में एकल पहचान परियोजना को 1900 करोड़ रुपये और राष्ट्रीय आबादी रजिस्टर को 3539 करोड़ रुपये सरकार ने आवंटित किए हैं।

गौरतलब है कि आजादी के ठीक बाद, जनगणना में देश के नागरिकों के बारे में इतनी विस्तृत निजी सूचनाएँ एकत्रित करने की जरूरत सरकार को नहीं थी। क्योंकि उस दौर में सरकार जनता से इतनी दूर, बेपरवाह और बेगाना नहीं हुई थी। आजादी की लड़ाई का आदर्श अभी बचा हुआ था। (तब नेता बसों में यात्रा करते थे जिसका अवशेष आज भी बस की सीट पर 'सांसद और विधायक सीट' के रूप में बचा हुआ है।) वे जनता से डरते नहीं थे ब्लैक कैट कमाण्डो और जेड श्रेणी सुरक्षा घेरे में नहीं चलते थे। जब जनता उन्हें छू सकती थी। जनविरोधी सरकारी नीतियों के

दुष्परिणामों के चलते ऐसी स्थिति आ गयी कि आज सरकार जनता से भयभीत है। उसे देश के हर नागरिक के खिलाफ खुफियागिरी करनी पड़ रही है। वाजपेयी सरकार के समय (2002) में ही इसकी चर्चा शुरू हुई थी। 2003 में नागरिकता नियम में संशोधन, 2008 में मुम्बई की आतंकी घटना के बाद तेजी से प्रयास शुरू हुए। फरवरी 2009 में पहचान प्राधिकरण की स्थापना की गयी। इसके लिए दिसम्बर 2008 में सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 को संशोधित किया गया। जिसके तहत बिना न्यायालय के आदेश या वारण्ट के किसी भी व्यक्ति का फोन टेप किया जा सकता है। इसमें किसी कम्प्यूटर स्रोत से भेजी गयी या प्राप्त की गयी या एकत्रित की गयी सूचनाओं को मोनिटर करना, उसे रोकना या खोलकर पढ़ना शामिल है।

> वे डरते हैं
> किस चीज़ से डरते हैं वे
> तमाम धन-दौलत
> गोला-बारूद-पुलिस-फौज के बावजूद?
> वे डरते हैं
> कि एक दिन
> निहत्थे और गरीब लोग
> उनसे डरना बंद कर देंगे।
> —गोरख पाण्डेय

पिछले कई सालों से सरकार की गलत आर्थिक नीतियों के चलते देश में शोषण-उत्पीड़न और कंगाली तेजी से बढ़ी है। इन नीतियों के नतीजों से पीड़ित लोग देश के विभिन्न इलाकों में अपने-अपने तरीके से सरकार का विरोध कर रहे हैं। सरकार इन आन्दोलनों के नेताओं पर नजर रखती है और उनके फोन टेप करके उनकी जासूसी करवाती है। एकल पहचान संख्या और आबादी रजिस्टर बन जाने से वह पलक-झपकते अपने विरोधियों के बारे में सारी जानकारी पा जाएगी। इस तरह सरकार के लिए उनका दमन करना और उनसे निपटना आसान होगा। कुल मिलाकर आने वाले समय में निरंकुश सरकार जनता की किसी भी न्यायसंगत माँग और लोकतांत्रिक विरोध को रौंदने में इन सूचनाओं का प्रयोग कर सकती है।

इन व्यक्तिगत सूचनाओं का देशी-विदेशी कम्पनियों के निजी मुनाफे के लिए इस्तेमाल की भी पूरी सम्भावना है। सरकार ने तय किया है कि वह क्रेडिट इन्फोर्मेशन कम्पनी को लाइसेन्स देगी जो ग्राहकों की उधारी का लेखा-जोखा लेते हुए आँकड़े इकट्ठा करेगी। बैंक, वित्तीय कम्पनी, टेलीकॉम और बीमा से सम्बन्धित सभी लेन-देन वे एकल पहचान संख्या का इस्तेमाल करके आसानी से जुटा लेगी। जिसकी हैसियत अच्छी होगी उसे बाजार तंत्र में शामिल कर लिया जाएगा, उन्हें क्या बेचा जा सकता है, कितना कर्ज दिया जा सकता है, यह घर बैठे तय किया जाएगा और जबकि गरीबों को बाजार तंत्र से बाहर रखा जायेगा।

यह मामला आंतकवादियों से निपटने का नहीं है। जन आन्दोलनों से जुड़े लोगों सामाजिक कार्यकर्ताओं, जनपक्षधर पत्रिकाओं, बुद्धिजीवियों, संस्कृतिकर्मियों सरकार विरोधी लोकतांत्रिक संगठनों मानवाधिकार कार्यकताओं और छोटे-छोटे स्थानीय मुद्दों पर न्यायपूर्ण संघर्ष चलाने वालों के दमन उत्पीड़न की घटनाएँ हमारे देश में हर रोज सुनने को मिलती है। ऐसे लोगों की किसी भी गतिविधि को देश की सुरक्षा और सम्प्रभुता पर खतरा बताकर दमन किया जा सकता है। सरकार के विरोध में चलाये जाने वाले न्यायसंगत जनान्दोलनों के दमन के लिए इसका आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता, निजता और नागरिक अधिकारों का गला घोंटने वाला एक निरंकुश कदम है। यह शासक वर्गों की ताकत की नहीं, उनकी कमजोरी और भय की अभिव्यक्ति है। इन उपायों में जॉर्ज ऑरवेल के उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' के तानाशाह 'बिग ब्रदर' की निरंकुशता की पदचाप सुनाई दे रही है– "यहाँ तक कि आपकी पीठ भी आपकी मुखबिरी कर सकती है।" ❑

आस्ट्रेलिया में भारतीयों पर जानलेवा हमला

आस्ट्रेलिया में भारतीय युवकों पर जानलेवा हमले जारी है। सन् 2006 से अब तक हमलों की कुल 2646 घटनाएँ हो चुकी हैं। आस्ट्रेलिया में करीब 95000 भारतीय छात्र हैं। गौरतलब है कि हाल ही में आस्ट्रेलिया के पुलिस अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा एक दूसरे को नस्ली सन्देश भेजने का भी भण्डाफोड़ हुआ है। भारत सरकार इन हिंसक घटनाओं को रुकवाने में नाकाम रही।

देश को महाशक्ति बनाने के स्वप्न लोक में विचरण करने वाले हमारे शासकों की दुनिया में क्या हैसियत है इसका यह भी एक प्रमाण है। आस्ट्रेलिया के किसी नागरिक पर अगर भारत में एक भी हमला हो जाता तो दुनिया भर में हंगामा मच जाता। क्या हमारे नौजवानों की जान की कोई कीमत नहीं?

पुलिस राज की तरफ बढ़ता देश

❑बुद्धेश

पिछले कुछ महीनों से "माओवादी खतरे" का काफी शोर सुनाई दे रहा है। छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा, बंगाल और बिहार तथा महाराष्ट्र में भारी संख्या में अर्द्धसैनिक बल तैनात हैं। भविष्य में सेना और वायु सेना के प्रयोग की सम्भावना से भी सरकार को इन्कार नहीं है, हालाँकि सेना के उच्चाधिकारियों ने देश के नागरिकों पर सेना के प्रयोग को अनुचित और नुकसानदायक बताया है।

दांतेवाड़ा में माओवादियों से लड़ने गये सीआरपीएफ के 76 जवानों की मौत के बाद यह मुद्दा और भी तीखे रूप में सामने आया है कि आखिर माओवादी कौन हैं, और सरकार उनसे आर-पार की लड़ाई क्यों छेड़ रही है।

राष्ट्रपति से लेकर प्रधानमंत्री तक तथा केन्द्रीय मंत्रियों से लेकर सत्ता प्रतिष्ठानों से जुड़े तमाम बुद्धिजीवियों तक ने यह स्वीकार किया है कि "वामपंथी उग्रवाद" देश के अल्पविकसित क्षेत्रों में ही पनपा है। योजना आयोग द्वारा नियुक्त एक विशेषज्ञ समूह ने 2008 में एक रिपोर्ट पेश की थी जिसका शीर्षक "चरमपंथ-प्रभावित क्षेत्रों में विकास की चुनौतियाँ" था। इस रिपोर्ट के अनुसार, "नक्सली आन्दोलन को भूमिहीन गरीब किसानों और आदिवासियों में मजबूत आधार वाले एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके उदय और विकास को इसमें शामिल लोगों की दशाओं और अनुभवों के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। राज्य की नीति और इसके क्रियान्वयन के बीच मौजूद चौड़ी खाई इन दशाओं का ही एक लक्षण है... इनकी रोज-ब-रोज की गतिविधियों को मूलतः सामाजिक न्याय, समानता, सुरक्षा और स्थानीय विकास के लिए संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए।" "यह आन्तरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा नहीं है।"

केन्द्रीय ग्रामीण विकासमंत्री की अध्यक्षता वाले 15 सदस्यीय समिति ने अपनी रिपोर्ट, "राज्य का कृषि सम्बन्ध और भूमि सुधार के अधूरे लक्ष्य" में लिखा है कि "आधुनिक भारत के 'मन्दिरों' ने लाखों आदिवासियों को पारिस्थितिकीय शरणार्थी बना डाला है। जिन खनिजों को आधुनिक भारत के निर्माण में 'ईंट-पत्थर' कहा गया था, वही उनकी जमीन छीने जाने और उनके समाज तथा अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने का खतरा बन गये हैं।"

इन सरकारी रिपोर्टों के अलावा पिछले दिनों अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे ढेर सारे तथ्य सामने आये हैं जो विकास के नाम पर अपनी जगह-जमीन से विस्थापित, जल-जंगल-जमीन के अपने नैसर्गिक अधिकारों से वंचित और स्थानीय पुलिस-प्रशासन के दमन-उत्पीड़न से त्रस्त लोगों की करुण कहानी का बयान करते हैं। इन लोगों के प्रति अतीत से आज तक सरकार का क्या रवैय्या रहा है?

सच्चाई यह है कि आजादी के बाद से ही हमारे देश का "विकास" काफी भेदभावपूर्ण और असन्तुलित रहा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में जो नीतियाँ अपनायी गयीं, उसमें पूरे देश के लिए एक समान आर्थिक और सामाजिक विकास का कोई कार्यक्रम तय नहीं किया गया था। वे नीतियाँ आम जनता की कीमत पर "टाटाओं-बिड़लाओं" को प्रोत्साहन देने वाली और उन्हें पोषित करने वाली नीतियाँ थीं। इससे एक तरफ तो अमीरों की संख्या बढ़ती गयी, वहीं दूसरी तरफ देश का अधिकांश हिस्सा अभावग्रस्त होता चला गया। एक ओर विकास के कुछ मीनार खड़े हुए और देश का कुछ हिस्सा 21वीं सदी की ओर सरपट दौड़ने लगा, वहीं देश का बाकी हिस्सा आजादी से पहले की स्थिति में ही पड़ा रहा। हजारों गाँवों तक बिजली और सड़कें नहीं पहुँची और करोड़ों लोगों को साफ पानी तक मुहैय्या नहीं हुआ। रोटी, कपड़ा और मकान आम आदमी की पहुँच से दूर ही रहा। आरक्षण और सीमित भूमि सुधार से दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों का एक छोटा-सा हिस्सा समाज की मुख्यधारा में शामिल हुआ और आगे चलकर इस पूँजीवादी व्यवस्था का आधार बना, लेकिन उसी तबके के बहुसंख्यक लोग हाशिये पर फेंक दिये गये। भारतीय समाज धीरे-धीरे विकृत पूँजीवादी विकास के रास्ते पर आगे बढ़ा। इस विकास की कीमत हाशिये पर पड़े करोड़ों लोगों ने चुकायी। आजादी के बाद से ही विकास के इस जनविमुख, पूँजीपरस्त रास्ते को जनता के विरोध का सामना भी करना पड़ा।

1985 के बाद, दुनिया के वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में जो बदलाव आया उसके चलते 1990 के बाद भारत में भी पूँजीपति वर्ग का पलड़ा भारी हो गया। देश के पूँजीपतियों ने विदेशी पूँजीपतियों से गँठजोड़ करके उन्हें खुलेआम भारत में आमंत्रित किया। अर्थव्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में उन्हें सौ प्रतिशत की पूँजी निवेश की छूट दी। उनके पक्ष में अनगिनत कानूनों को बदला गया। भारतीय राज्य ने अपना 'जनकल्याणकारी और समाजवादी' राज्य का मुखौटा उतार फेंका और नग्न पूँजीवाद का हिमायती बन कर खुलेआम मैदान में कूद पड़ा। इन देशी-विदेशी पूँजीपतियोंको नये कानून बनाकर राज्य की सम्पत्तियों को सौंपना शुरू कर दिया गया। विनिवेश के नाम पर सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियाँ कौड़ियों के मोल देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बेचा जाने लगा। आजादी के बाद से एक हद तक जारी

"आत्मनिर्भर विकास" को तिलांजलि दे दी गयी और उस काल में निर्मित "ढाँचा" को समायोजित करने (तोड़ने) के लिए "ढाँचागत समायोजन" लागू किया गया। खदानें, फैक्ट्रियाँ, खेत, जल, जंगल, जमीन, पहाड़, नदियाँ, उच्च शिक्षण संस्थान और शोध संस्थाएँ– सभी की बोली लगाई गयी। यहाँ तक कि 'मानव' को ही इन कम्पनियों को 'संसाधन' घोषित कर दिया गया। श्रम कानूनों में पूँजीपतियों के हित में आमूल बदलाव किये गये।

हालाँकि जनता और उनके संगठनों ने इसका प्रतिवाद किया, मगर उनके संघर्ष में इतनी धार नहीं थी कि इन नीतियों की धारा बदल सके। पुराने आधार पर और आनुष्ठानिक विरोध तक ही सीमित रह कर ऐसा कर पाना सम्भव भी नहीं था। नेतृत्वकारी शक्तियाँ वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में आये भारी बदलाव को समझ नहीं सकीं। यह प्रतिरोध हार गया। कानून बनाकर पूरे देश में 531 'सेज' के निर्माण की मंजूरी दी गयी और इसके लिए हजारों एकड़ खेती योग्य जमीन का अधिग्रहण किया गया। पिछले कुछ महीनों में विदेशीकरण की इस प्रक्रिया में तेजी आयी है। प्राकृतिक संसाधनों को कौड़ियों के मोल नीलाम करने के लिए उड़ीसा में 65, झारखण्ड में 42 और छत्तीसगढ़ में 80 समझौते देशी-विदेशी कम्पनियों के साथ किये गये। आदिवासियों की लगभग 7,50,000 एकड़ जमीन खनन के लिए और 2,50,000 एकड़ जमीन उद्योग लगाने के लिए इन कम्पनियों को सौंपा गया है। और अब तक राज्य सरकारों और देशी-विदेशी कम्पनियों के बीच लाखों करोड़ रुपये के करार पर दस्तखत किये जा चुके हैं। दूसरी ओर जहाँ-जहाँ भी ये परियोजनाएँ शुरू की जा रही हैं, वहाँ-वहाँ स्थानीय लोगों, मुख्यतः आदिवासियों का भारी विरोध झेलना पड़ रहा है।

आज पूरा देश 'आर्थिक नव-उपनिवेशवाद' में बदल चुका है। देश टाटा, मित्तल, जिन्दल, रिलायंस, डीएलएफ, एस्सार, पास्को, बीएचपी बिलिटन, वेदान्ता, स्टरलाइट, हीरो होण्डा, कारगिल, मोंसेन्टो, मारूति जैसी हजारों देशी-विदेशी पूँजीपतियों के गठबन्धनों के हवाले कर दिया गया है।

1991 में मनमोहन सिंह ने वित्तमंत्री के रूप में नयी आर्थिक नीतियों का सूत्रपात किया था। इसके ठीक पहले 1990 में जब वे दक्षिण-दक्षिण आयोग के सचिव थे, जो गरीब देशों का एक संगठन था, तब एक रिपोर्ट में उन्होंने कहा था कि जिन देशों में विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष समर्थित नीतियाँ लागू हुई हैं, वहाँ की सरकारों को भारी पैमाने पर प्रतिरोध झेलना पड़ा है। उसे अपनी ही जनता का दमन-उत्पीड़न करने के लिए सशस्त्र बलों और दमनात्मक कानूनों का अधिकाधिक सहारा लेना पड़ा है। यही नहीं, उन्हें अन्ततः तानाशाहीपूर्ण रवैय्या भी अख्तियार करना पड़ा है।

अब वही मनमोहन सिंह भारत के प्रधानमंत्री हैं। इतिहास का यह कैसा व्यंग्य है कि 20 साल बाद वे खुद आज अपनी रिपोर्ट की सच्चाई सिद्ध कर रहे हैं और उसे अमल में ला रहे हैं।

पिछले 20 वर्षों के दौरान जनता के कई प्रतिरोध संघर्षों को पराजय का सामना करना पड़ा तो कुछेक एक हद तक सफल भी रहे। कई परियोजनाओं से कम्पनियों और पूँजीपतियों को खदेड़ा गया है। कई जगहों से सरकार को पीछे हटना पड़ा है। नंदीग्राम और सिंगूर इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। झारखण्ड में कोयलकारो, उड़ीसा में गंधमार्दन, बिलिका, गोपालपुर और कलिंगनगर , गोवा में डूयों और दूसरे सेज के मामले, महाराष्ट्र का नवीं मुम्बई सेज तथा केरल के कोका कोला का मामला ऐसे ही कुछ और उदाहरण हैं।

जनता के आन्दोलनों की आंशिक सफलता और देशी-विदेशी कम्पनियों के प्रति अंधी पक्षधरता ने सरकार को "आर्थिक सुधारों" को तेज करने के लिए "कुछ ठोस कार्रवाई" करने पर मजबूर किया है।

सरकार का यह रवैय्या कोई नया नहीं है। आजादी के बाद से ही, मजदूरों, किसानों, छात्रों, आदिवासियों, दलितों, अल्पसंख्यकों, राष्ट्रीयताओं और पिछड़े इलाकों के जितने भी आन्दोलन हुए हैं उनकी माँगों पर सुनवाई करने और उन्हें हल करने के बजाय सरकार ने उनको निर्ममतापूर्वक कुचलने का ही काम किया है। शायद ही कोई दिन हो जब देश के किसी न किसी कोने में 'निहत्थी' जनता के न्यायपूर्ण और लोकतांत्रिक आन्दोलनों को बलपूर्वक दबाने की खबर न आये। बर्बरता के कई मामलों में यह "लोकतांत्रिक" सरकार अपने पूर्ववर्ती ब्रिटिश हुक्मरानों को भी पीछे छोड़ देती है।

अब "माओवादी उग्रवाद" के बहाने भारतीय राज्य ने जनता के स्वतःस्फूर्त या संगठित, सभी प्रकार के आन्दोलनों को निर्ममता से कुचलने का मन बना लिया है। "जो हमारी तरफ नहीं है वो आतंकवादी है" की तर्ज पर जो भी व्यक्ति या संस्था भारतीय सरकार की इन दमनात्मक कार्रवाईयों का विरोध करता है वह "माओवादी" है। सरकार का यह षड्यंत्र इसलिए है कि जनता के लिए लड़ने वाले संगठनों और उनका समर्थन करने वाले बुद्धिजीवियों की भाषा जनविरोधी नीतियों और लोकतांत्रिक अधिकारों के सवाल पर माओवादियों की भाषा से मिलती-जुलती है। इसलिए जनता के सही संगठनों को मौजूदा राजसत्ता ने "माओवादी" बता कर उन पर निशाना साधना शुरू कर दिया है उनके समर्थक पत्रकार और टीवी चैनल मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को भी माओवादी बताने से नहीं चूकते। इस तरह लोकतांत्रिक विरोध की सारी सम्भावनाओं को समाप्त किया जा रहा है। यही वह जमीन है जहाँ से हताशा की स्थिति में "उग्रवाद" पैदा होता है। शासकों ने अपने अतीत से सबक सीख लिया है कि मुट्ठीभर "सशस्त्र बहादुरों" और "जनता के नायकों" से तो वह फिर भी निपट सकती है, लेकिन लाखों-करोड़ों की संख्या में शामिल आम जनता का दमन करना आसान नहीं। अपनी जनविरोधी नीतियों से त्रस्त जनता के आन्दोलनों की आहट सुनाई दे रही है। इसलिए सरकार

–शेष पृष्ठ 16 पर

खाप पंचायत कितनी नैतिक

□नीलम/संजू

31मार्च को ऑनर किलिंग के बहुचर्चित मनोज-बबली हत्याकाण्ड में अदालत ने पाँच दोषियों को मौत की सजा, खाप पंचायत के एक प्रतिनिधि को उम्रकैद और हत्या में शामिल एक ड्राइवर को सात साल की सजा दी। अदालत के इस महत्त्वपूर्ण फैसले से खाप पंचायतों द्वारा जारी मध्ययुगीन बर्बर और हिंसक परम्परा पर रोक लगने की उम्मीद की जा रही हैं। गौरतलब है कि जिन पाँच लोगों को फाँसी दी गई वे सभी बबली के रिश्तेदार हैं। यह फैसला स्वागत योग्य है क्योंकि पहली बार अदालत ने ऐसे मामले में दोषियों को सजा दी है। लेकिन क्या इस अदालती फैसले के दम पर खाप पंचायतों के आपराधिक फरमानों पर अंकुश लग पायेगा?

इस फैसले के दो हफ्ते के भीतर 13 अप्रैल को ही कुरूक्षेत्र में खाप पंचायतों के 4000 प्रतिनिधियों की महापंचायत हुई। खाप के एक चौधरी ने कहा कि "सामाजिक जीवन और नैतिक सम्मान कानूनी मुद्दे नहीं बल्कि घरेलू मामले हैं, जिन्हें बड़े-बूढ़े ही हल कर सकते हैं।" पंचायत ने मनोज-बबली हत्याकाण्ड के सजायाफ्ता लोगों को कानूनी सहायता देने और शादी की परम्परा की हिफाजत का संकल्प लिया। क्यों माँ-बाप, भाई-चाचा व अपने सगे झूठी इज्जत की खातिर दरिन्दे बन जाते हैं? क्यों वे इज्जत के लिए अपने मासूम बच्चों की हत्या तक कर देते हैं? आजादी और लोकतंत्र के 62 साल बाद भी ऐसी मध्ययुगीन परम्परा के बने रहने का क्या औचित्य है?

हमारे देश में धर्म, जाति, वर्ण, भाषा और लिंग आधारित कई विषमताएँ बहुत पहले से चली आ रही हैं। एक तरफ जहाँ ये भेदभाव हमारी एकता को कमजोर करते हैं तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक और जातिवादी शक्तियाँ जनता को गुमराह करके सत्ता के शीर्ष तक पहुँच जाती है। आजादी के बाद क्रमिक पूँजीवादी विकास ने समाज की जड़ता को कुछ हद तक तोड़ा। गतिशीलता के कारण अलग-अलग जातियों, कौमों के लड़के-लड़की एक दूसरे के सम्पर्क में आये। शिक्षित होने के कारण उनके मन से जाति-धर्म और रूढ़िगत परम्परा से जुड़े पूर्वाग्रह कम हुए। यही कारण है कि एक गोत्र में ही नहीं बल्कि जाति-धर्म से बाहर भी शादियाँ होने लगी हैं। एक तरफ क्रमिक सामाजिक बदलावों ने ऐसी परिस्थिति तैयार की है कि रूढ़िगत भेदभावों को मिटाकर देश के नागरिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आपसी सहमति के नये आधार पर एकता के सूत्र में बँध सकते हैं। दूसरी ओर ऐसा कोई भी कदम परम्परागत सोच और मूल्य-मान्यता से बंधे सवर्ण जातियों के शीर्षस्थ लोगों और परम्परागत अभिभावकों की प्रतिष्ठा को चुनौती देता है।

पुराने समय से आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था पर उच्च जातियों का वर्चस्व रहा है। इन खापों/जातियों की पंचायतें ही सभी महत्त्वपूर्ण मामलों में अपने एकतरफा फैसले सुनाती रही है। हमारे देश में लोकतांत्रिक संस्थाएँ और कानून व्यवस्था इतनी अपाहिज है कि आज भी राजस्थान, हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अक्सर ये खाप पंचायतें मौजूदा कानूनों के समानान्तर अपना फैसला सुनाती और उसे लागू करती रहती है। इन पंचायतों की परम्परा के विरुद्ध अगर किसी युवक-युवती ने अपनी गोत्र में या किसी अन्य जाति में शादी कर ली तो ये उन्हें मौत का फरमान सुनाने से भी नहीं हिचकते। अगर कोई दलित या पिछड़ी जाति का युवक ऊँची जाति की लड़की से प्रेम करे या शादी कर ले तो ये पंचायतें गुस्से में आग-बबूला होकर उन समुदायों पर कहर बरपा करती हैं।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से प्रेम ही हमें जानवरों से और मशीनों से अलग करता है। एक बालिग युवक या युवती से बेहतर उसकी जिन्दगी के बारे में फैसले कौन ले सकता है? प्रेम विवाह की दुश्मन ये खाप पंचायतें जब किसी की जिन्दगी सँवार नहीं सकती तो उन्हें लोगों को मौत का फरमान सुनाने का क्या हक है? क्या कभी इन्होंने दुराचार, पारिवारिक हिंसा, कन्या भ्रूण हत्या, भ्रष्टाचार, महँगाई और शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठायी है? इन पंचायतों ने आगे बढ़कर समाज के पैरों में पड़ी इन बेड़ियों को क्या कभी तोड़ने का काम किया है? महिलाओं की जनसंख्या कम होने के चलते सैकड़ों नौजवान गाँवों में कुँवारे रह जाते हैं और उनका वंश डूब जाने की नौबत आ जाती है। क्या खाप पंचायतें उनकी चिन्ता करती है? अपने बच्चों को मारकर वे देश और समाज को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं?

खाप पंचायतों के ऐसे निर्णयों में एक ऐसी सोच काम करती है, जिसमें वे औरत को एक इंसान की तरह नहीं, बल्कि परिवार, जाति और समुदाय की निजी सम्पत्ति की तरह देखते हैं।

औरतें अपने मन और शरीर की खुद मालिक नहीं उनका अस्तित्व, उनकी इज्जत पुरुषों की मिल्कियत हैं। उनकी सुचिता समुदाय की इज्जत है। आजादी के इतने साल बाद भी लोगों पर ऐसी मध्ययुगीन सोच का हावी रहना सचमुच इस पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था पर ही सवाल है।

खाप पंचायतों द्वारा इज्जत के लिए मृत्युदण्ड के फैसले से दोनों परिवार बर्बाद हो जाते हैं। लड़की और लड़का मार दिये जाते हैं। हत्यारे रिश्तेदार पुलिस प्रशासन से छुपने के लिए यहाँ वहाँ फिरते हैं। खाप पंचायतों की बर्बरता नई पीढ़ी को वैज्ञानिक सोचवाले, तर्कशील और विवेकवान व्यक्ति बनाने के बजाय उन्हें जुल्मो सितम के खिलाफ मुँह न खोलने वाले असंवेदनशील लोगों की बर्बर भीड़ में बदल देती है जो झूठी मान-मर्यादा के नाम पर उनके फैसलों के मौन समर्थक बने रहते हैं। ऐसा करना यह सब एक ही जाति के भीतर अमीर-गरीब के भेद पर पर्दा डालने में सहायक है, क्योंकि धनाढ्य लोग जातिगत आधार पर अपनी जाति के स्वनामधन्य नेता बने रह सकते हैं।

अपने वोट बैंक की चिन्ता में कोई भी राजनेता आज अपनी जाति के खिलाफ मुँह नहीं खोलना चाहता। वे खुद इन रूढ़ियों और परम्पराओं से ऊपर उठकर शानदार जिन्दगी जी रहे हैं, लेकिन अपनी जाति के बहुसंख्य लोगों को प्रगतिशील सोच नहीं देना चाहते। खुद अपनी संतानों को पूरी आजादी देते हैं, लेकिन अपनी जाति के आम युवा वर्ग को खाप पंचायातों के बंधन से मुक्त करने का प्रयास नहीं करते। इस मुद्दे पर कांग्रेस और भाजपा जैसी बड़ी पार्टियों ने चुप्पी साध रखी है। जातीय और धार्मिक कट्टरता को उकसाकर ये चुनाव जीतते हैं और सत्ता के गलियारे में पहुँचते हैं। फिर भला वे क्यों ऐसी कुप्रथाओं को खत्म करेंगी।

वैसे अदालत ने अपना फैसला सुना दिया है। लेकिन इससे जाति पंचायते खत्म हो जायेंगी और गलत परम्पराओं का अंत हो जायेगा, ऐसा मान लेना भोलापन होगा। हमारे देश में बुनियादी सामाजिक बदलाव और सही मायने में लोकतंत्र की स्थापना न होने के कारण लोगों के अन्दर पिछड़ापन, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता और स्वेच्छाचारिता भरी हुई है। ऐसे मूल्यों के रहते क्या हमारा समाज आगे बढ़ सकता है? प्रसन्नता की बात यह है कि उन्हीं इलाकों के युवावर्ग और प्रगतिशील लोगों की ओर से विरोध का स्वर भी मुखर होने लगा है। सैकड़ों की संख्या में युवकों और युवतियों के बलिदान के बाद लोग अब सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सोचने के लिए विवश हो रहे हैं। ऐसे में यह जरूरी है कि सभी प्रगतिशील ताकतें एकजुट होकर इन रूढ़ियों के खिलाफ वैचारिक संघर्ष चलाएँ। हमें नानक, कबीर, ज्योतिबा फूले और भगत सिंह के जीवन से सीखना चाहिए जिन्होंने हर तरह की सड़ी-गली परम्पराओं का डटकर मुकाबला किया। आज हमें उन्हीं के बताये रास्ते पर चलने की जरूरत है। ❑

नाभिकीय आतंकवादी

न्यूयार्क में आहूत नाभिकीय सुरक्षा शिखर बैठक की पूर्व सन्ध्या पर, जिसमें 'नाभिकीय आतंकवाद' प्रमुख ऐजेण्डा है, प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा "त्रुटिहीन नाभिकीय सुरक्षा रिकार्ड" का दावा उसी दिन धराशायी हो गया जब दिल्ली में आयात परमाणु कचरे से 5 मजदूर गम्भीर रूप से संक्रमित हो गये। बहुत से मेडिकल उपकरणों में रेडियोएक्टिव कोबाल्ट-60 का प्रयोग होता है। यह कचरा उन्हीं उपकरणों का है।

भारत में ऐसी 1485 संस्थाएँ हैं जिनमें कुछ 7850 नाभिकीय उपकरण लगे हैं। स्टाफ की कमी के चलते 2008-09 में परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड ने इनमें केवल 16 निरीक्षण किये। इसी तरह 505 औद्योगिक रेडियोग्राफी इकाइयों में से केवल 39 का निरीक्षण किया गया। देश के सभी अस्पतालों से निकलने वाले रेडियोधर्मी कचरे के आधे से भी अधिक हिस्से का निबटारा सुरक्षित रूप से नहीं किया जाता है। आयातित कचरे की जाँच और उनके निबटारे की स्थिति और भी भयावह और निराशाजनक है। बन्दरगाहों और हवाईअड्डों पर इसकी जाँच की व्यवस्था होनी चाहिए— लेकिन इतना बड़ा रेडियोएक्टिव कचरे का जखीरा सारी बाधाओं को पार कर देश में पहुँचता रहता है।

जाहिर है कि साम्राज्यवादी दुनिया में हमारी हैसियत एक जूठन बटोरने वाले जैसी बना दी गयी है। खतरनाक परमाणु कचरे का मामला सामने आ जाने पर अब हर कोई इससे अनभिज्ञता जाहिर करने में लगा है, जाँच बैठाने का नाटक भी हो रहा है— कुछ दिनों में लोग इसे भूल जायेंगे।

ये हैं हमारे शासक! ये हैं असली नाभिकीय खतरा!

राजनीति में भ्रष्टाचार : हर शाख पे उल्लू बैठे हैं

□बुद्धेश

पिछले दिनों राजनीतिक हलके की एक घटना काफी चर्चित हुई। आय से अधिक सम्पत्ति रखने के आरोपी लालू यादव और राबड़ी देवी पर मुकदमा चलाने की इजाजत के लिए बिहार सरकार की याचिका न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गयी।

जब केन्द्र में भाजपा गठबन्धन की सरकार थी तभी चारा घोटाला उजागर हुआ था और आय से अधिक सम्पत्ति रखने के आरोप में लालू यादव और उनकी पत्नी राबड़ी देवी के खिलाफ सीबीआई ने जाँच शुरू की थी। आगे चलकर भाजपा-सरकार बदल गयी। केन्द्र में कांग्रेस की गठबन्धन सरकार बनाने में लालू यादव ने बढ़-चढ़ कर भूमिका अदा की। इसका सीधा लाभ उन्हें रेल मंत्रालय के रूप में तो मिला ही, सीबीआई ने इनके खिलाफ जाँच रोक दी और अदालत को सूचित किया कि वह मुकदमे को आगे नहीं बढ़ाना चाहती। बिहार की लालू विरोधी नितीश सरकार को सीबीआई का यह कदम नागवार लगा। उसने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर करके यह माँग की कि बिहार सरकार को लालू यादव पर मुकदमा चलाने की इजाजत दी जाय। सर्वोच्च न्यायालय ने बिहार सरकार की याचिका खारिज कर दी।

ऊपर से साधारण-सी दीखने वाली यह घटना अपने आप में गूढ़ अर्थ छिपाये हुए हैं। यह भारतीय राजनीति की वर्तमान दशा की ओर संकेत है।

अदालत में यह साबित नहीं हुआ है कि लालू दम्पत्ति ने ज्ञात आय से अधिक सम्पत्ति बटोरी या नहीं। सीबीआई की जाँच से भी यह पता नहीं चल पाया कि लालू दम्पत्ति पर लगाया गया आरोप सही है या नहीं। ऐसे में यह सवाल उठना लाजिमी है कि सीबीआई ने मुकदमे को आगे क्यों नहीं बढ़ाया!

सीबीआई नई दिल्ली में बैठी केन्द्रीय सरकार के अधीन काम करने वाली संस्था है। यह सीधे प्रधानमंत्री और गृहमंत्री के आदेश पर कार्रवाई करती है। यह एक ऐसा महकमा है जो "अपने काम को" अंजाम देने में बहुत ही सक्षम मानी जाती है, लेकिन इसके अब तक के क्रियाकलाप यही साबित करते हैं कि यह केन्द्र सरकार के इशारे पर उनकी सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहती है। भ्रष्टाचार के मामलों में अक्सर सीबीआई की शुरुआती जाँच से ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी पकड़ से बचना किसी के लिए भी सम्भव नहीं लेकिन अन्त में सजा की नौबत शायद ही किसी मामले में आती हो।

ज्ञात आय से अधिक धन इकट्ठा करने के तमाम मामले पिछले दिनों उजागर हुए हैं। करूणानिधि, नरसिंह राव, प्रकाश सिंह बादल और उनका बेटा सुखबीर बादल, ओमप्रकाश चौटाला और उनके लड़के, कैप्टन अमरिन्दर सिंह, लालू यादव और उनकी पत्नी राबड़ी देवी, मुलायम सिंह यादव, अमर सिंह, मायावती, जयललिता और सुखराम आदि के नाम भ्रष्टाचार के कारण अखबारों में छाये रहे हैं। इन "राजनेताओं" के अलावा तमाम बड़े अफसरों के पास भी करोड़ों की अघोषित सम्पत्ति पायी गयी है। हालाँकि पूँजीपति के बारे में कभी सूनने को नहीं मिला, जबकि भ्रष्टाचार ही उनका शिष्टाचार है। क्योंकि उनको इस मामले में कानूनी संरक्षण प्राप्त है। उनकी हर 'आमदनी' उनकी वैध 'आय' होती है, क्योंकि वे काले को सफेद करना जानते हैं। उनके बारे में यह आम धारणा है कि उनका तो काम ही है "पैसा कमाना"। नेताओं और अफसरों का काम है, इस काम में उनकी मदद करना जिसके लिए इन्हें एक निश्चित तनख्वाह और तमाम तरह की सुविधायें दी जाती हैं। हालाँकि नेताओं और अफसरों को भी उद्योगपति और व्यवसायी बनने की इजाजत है। फिर नौकर के बजाय मालिक बनना कौन नहीं चाहता! लेकिन यह काम इतने कम 'तनख्वाह' में कैसे सम्भव है! इसलिए ये नेता और अफसर अपनी आय बढ़ाने के लिए "ऊपर कमाई" के मौके तलाशते रहते हैं। इस आपाधापी में कुछ को एक-दूसरे के सहारे की जरूरत होती है तो कुछ को धक्का भी दे दिया जाता है।

इसके लिए जिनके नाम अखबारों में और टीवी चैनलों पर आ गये हैं, उनके पास कुछ हजार करोड़ की अघोषित सम्पत्ति है, यह हम सभी जान गये हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि जिन नेताओं और अफसरों का नाम उजागर नहीं हुआ है वे सिर्फ अपनी 'तनख्वाह' पर गुजारा करते हैं। चुनाव के दौरान नेताओं की ओर से अपनी सम्पत्ति घोषित की जाने लगी है। हालाँकि उसकी प्रमाणिकता अभी संदिग्ध ही है। फिर भी अगर उसे सिर्फ इशारा ही समझा जाय तो पता चलता है कि सिर्फ पाँच वर्ष के भीतर इनकी सम्पत्ति में कई-कई गुने की वृद्धि हो जाती है। इस बढ़ी हुई सम्पत्ति का स्रोत क्या है? जाहिर है कि इस श्री वृद्धि में उनकी "ऊपरी कमाई" का ही हाथ होता है।

छापे के दौरान बोरों में भरे नोट, गद्दे-दीवान और सोफे में ठुसे नोट, अटैचियों और ब्रीफकेसों में अटाये हुए नोट और यहाँ तक कि शौचालयों और पूजाघरों में छुपा कर रखे गये नोटों के बन्डल इन

नेताओं और अफसरों में घरों से बरामद होने की खबरें अक्सर सुनने को मिलते हैं। कई शहरों में प्लाट, मकान, फार्म हाऊस और कम्पनियों के शेयर भी छापों के दौरान पाये जाते हैं। भाजपा के एक दिवंगत नेता के घर से रिलायंस कम्पनी के एक करोड़ शेयर (जिनका उस समय बाजार मूल्य लगभग 1300 करोड़ रुपये आंका गया था) पाये गये थे। इन छापों और जमा तलाशी के बाद क्या होता है, यह लोगों को नहीं पता चल पाता और लोग जल्दी ही इसे भूल जाते हैं।

चूँकि सीबीआई केन्द्र सरकार के अधीन काम करती है। इसलिए यह केन्द्र में सरकार चलाने वाली पार्टी के विरोधियों को परेशान करने का एक अचूक उपाय बन गयी है। इसीलिए सीबीआई उन्हीं नेताओं को अपना निशाना बनाती है जो विपक्ष में होते हैं और जिनके लिए सीबीआई को ऐसा करने के लिए कहा जाता है। लालू यादव और राबड़ी देवी, मुलायम सिंह यादव, अमर सिंह, जयललिता, मायावती, प्रकाश सिंह बादल और ओम प्रकाश चौटाला के उदाहरण यही दर्शाते हैं। लालू दम्पत्ति पर जब आरोप लगा तब केन्द्र में भाजपा सत्ता में थी। उसने लालू को अस्थिर करने और बिहार की सत्ता से उन्हें बेदखल करने के लिए सीबीआई को उनके पीछे लगाया। जब केन्द्र की सत्ता भाजपा से कांग्रेस के हाथों में आ गयी तब लालू सत्ता के एक प्रमुख स्तम्भ हो गये और सीबीआई इनके पीछे पड़ने के बजाय आगे-पीछे चलने लगी। उनके खिलाफ चल रही जाँच रोक दी और अन्ततः मुकदमा वापस ले लिया गया। लेकिन लालू विरोधी नितीश कुमार की सरकार को यह हजम नहीं हुआ। इसलिए नहीं कि वे या उनकी पार्टी के सभी नेता दूध के धूले हैं, बल्कि इसलिए कि लालू दम्पत्ति को परेशान करने का उन्हें यह आसान रास्ता लगा।

मुलायम सिंह और अमर सिंह की जोड़ी जब कांग्रेस का विरोध करने लगी तो कांग्रेस सरकार ने उनके विरुद्ध सीबीआई को सक्रिय कर दिया। परमाणु करार के मुद्दे पर जब कांग्रेसी सरकार संकट में फंसी तो मुलायम और अमर की जोड़ी ने उसके लिए संकटमोचन की भूमिका निभायी और कांग्रेस की सरकार को गिरने से बचा लिया। ऐसे में "ईमानदार और प्रबुद्ध" प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने इस एहसान का बदला चुकाया और सीबीआई निष्क्रिय हो गयी। भविष्य में जब कभी मुलायम सिंह कांग्रेस के लिए परेशानी खड़ी करने की स्थिति में आयेंगे तब सम्भव है कि सीबीआई फिर से सक्रिय हो जाये।

मायावती, जयललिता का मामला भी करीब-करीब ऐसा ही है। इन्हें भी अपने खिलाफ निष्क्रिय रखने के लिए सीबीआई को सक्रिय किया गया।

कभी-कभी पार्टी और गठबन्धन के भीतर के लोगों को सबक सिखाने के लिए भी सीबीआई के इस्तेमाल की जरूरत पड़ती है। पंडित सुखराम और शिबू सोरेन का उदाहरण कुछ-कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है।

अपने विरोधियों को परेशान करने और उन्हें बदनाम करने के अलावा ऐसे मामलों में सीबीआई की सक्रियता यह आभास भी देती है कि सरकारी मशीनरी भ्रष्टाचार के खिलाफ सक्रिय है।

ये लोग अपनी "मासिक तनख्वाहों" और प्राप्त "अन्य सुविधाओं के अलावा अपने-अपने विभागों से सम्बन्धित घोटाले अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके अन्य दूसरे क्षेत्रों से पैसा बनाने, ठेके-पट्टों का बन्दरबाँट करने, अपने विभागों से सम्बन्धित खरीदारी और अन्य कामों में कमीशन खाने, तस्करों, माफियाओं, गुण्डों और यहाँ तक कि बच्चों का अपहरण करने वालों तक को प्रश्रय देकर पैसा बनाने, सामाजिक सम्पत्ति को कौड़ियों के हाथ निजी हाथों को बेचने और उसमें कमीशन खाने, पूँजीपति-व्यापारियों के लिए नियमों में ढील देने और उससे पैसा बनाने, ट्रांसफर-पोस्टिंग से पैसा बनाने, सरकारी योजनाओं से कमीशन खाने, सूखे-बाढ़ और अन्य प्राकृतिक आपदाओं के राहत कोष से धन कमाने और सरकारी मशीनरी का अपने व्यक्तिगत हित में इस्तेमाल के जरिये अपनी दौलत दिन दुनी रात चौगुनी रफ्तार से बढ़ाते रहते हैं। याद कीजिए, सुखराम पर दूर संचार विभाग में 'नेटवर्क' आवंटन के जरिये और प्रमोद महाजन पर मोबाइल फोन के कारोबार में रिलायंस कम्पनी को फायदा पहुँचा कर अरबों रुपये कमाने का आरोप लगा है। मायावती के ऊपर ताज कोरिडोर के ठेकों से अरबों रुपये बनाने का आरोप लगा। मुलायम पर सरकारी सीमेन्ट कम्पनियों को कौड़ियों के मोल एक उद्योगपति को बेचने और उसके बदले करोड़ों रुपया कमाने का आरोप लगा। लालू यादव को भैंसों के लिए आवंटित चारे के माध्यम से ही अरबों रुपये कमाने का आरोप लगा। महाराष्ट्र के पूर्व उपमुख्यमंत्री छगन भुजबल के ऊपर "नकली स्टाम्प छपवाने" में मदद देने के जरिये धन कमाने का आरोप लगा है। पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंह राव के ऊपर एक शेयर दलाल को मदद करके प्राप्त उसके पैसे से अपनी सरकार बचाने के लिए रिश्वत देकर 'वोट' खरीदने का आरोप लगा। अजीत सिंह और शिबू सोरेन के ऊपर संसद में अपने 'वोट' बेचकर धन कमाने का आरोप लगा। झारखण्ड के पूर्व मुख्यमंत्री मधु कोड़ा के ऊपर प्रदेश की खनिज सम्पदाओं का सौदा करके रातोंरात अरबों-खरबों रुपये बनाने का आरोप लगा। गृहमंत्री चिदम्बरम के ऊपर अपने निकट सहयोगी के माध्यम से इण्डियन बैंक के अरबों रुपये डकार जाने का आरोप लगा। सभी पार्टियों (वामपंथी पार्टी को छोड़कर) के शीर्ष नेताओं पर हवाला के माध्यम से करोड़ों रुपये कमाने का आरोप लगा। अभी-अभी (लेख-लिखे जाने के दौरान ही) विदेश राज्यमंत्री शशि थरूर के ऊपर अपनी महिला मित्र को आईपीएल की एक टीम के करोड़ों रुपये के शेयर मुफ्त में आवंटित करवाने का आरोप लगा है। सूची काफी लम्बी है। यह तो चंद उदाहरण भर है। सम्भव है कि लेख छपते-छपते ऐसे कई और मामले प्रकाश में आ जायें।

जिस तर्क के साथ और जिस कानून के तहत लालू यादव के खिलाफ कार्रवाई की जा रही है, उसे संसद और विधान सभाओं में बैठे नेताओं और देश के छोटे-बड़े अधिकारियों पर लगाया जाय तो

शायद भारतीय जेलों में जगह नहीं बचेगी। स्थानीय स्तर तक के नेता-जिला पंचायत अध्यक्ष, ब्लाक प्रमुख और गाँवों के प्रधान तक-और पुलिस-प्रशासन, कोर्ट कचहरी के तमाम पदस्थ लोग जेल के भीतर होंगे।

एक आकलन के मुताबिक देश के मात्र 10 क्षेत्रों में ही रिश्वत का सालाना लेन-देन 40,000 करोड़ रुपये से अधिक है। लाखों करोड़ रुपये के 'काले धन' का स्रोत आखिर क्या है!

भ्रष्टाचार, घोटालों और घपलों की खबरें अक्सर ही सामने आती हैं। आरोप बहुतों पर लगते हैं। मुकदमे भी दर्ज होते रहते हैं। लेकिन न तो कोई आरोप साबित होता है और न ही किसी बड़े को सजा सुनायी जाती है। ये लोग न्यायालय से बाइज्जत बरी हो जाते हैं। इनमें छोटे स्तर के नेताओं से लेकर पूर्व प्रधानमंत्री तक शामिल रहे हैं, सचिवालय से लेकर जिले, तहसील और ब्लाक स्तर के अफसर भी इस बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं। सभी आपस में मौसेरे-चचेरे-फुफेरे भाई हैं।

कोई भी पार्टी सत्ता में हो, सभी अपने विरोधियों के खिलाफ सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल करती हैं। नीतियों, कार्यक्रमों और विचारों के आधार पर अपने विरोधियों को टक्कर देने और उन्हें परास्त करने का दौर अब खत्म हो चुका है। पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियों के बीच नीतियों कार्यक्रमों और मुद्दों पर आज गजब की एकता है। अगर कोई विरोध दिखाई देता है तो वह जनता के अलग-अलग तबकों, जातियों और धर्मों का वोट अपने पक्ष में करने के लिए ही होता है। आज न कोई पक्ष है और न ही कोई विपक्ष। पार्टियों के अधिकांश नेता जनाधार विहीन हैं। इसलिए कोई यह नहीं कहता कि हम "जनता की अदालत" में जायेंगे। नेता जनता से मुँह मोड़ चुके हैं और जनता नेताओं से। इसलिए जो भी पार्टी सत्ता में आती है, उसके पास सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल ही अपनी स्थिति मजबूत करने और विरोधियों को डाँवाँडोल करने का आसान जरिया होता है।

ऊपर से लेकर नीचे तक, देश का नेतृत्व करने वाले लोग अपनी-अपनी स्वार्थ, सिद्धि में लगे हैं। शायद ही कोई नेता या अफसर हो जो "ऊपरी कमाई" करने का अतिरिक्त प्रयास नहीं करता। जनसेवा और देश-सेवा का भाव स्वसेवा में बदल गया है। एक तरफ आम जनता है जो अपने रोजमर्रे की जरूरतें भी पूरी नहीं कर पा रही है और दो जून की रोटी के लिए दर-दर भटक रही है तो दूसरे तरफ देश के ये कर्णधार हैं जो "देश सेवा" शुरू करने के चंद वर्षों के भीतर ही करोड़पति, अरबपति हो जाते हैं। बहुसंख्य जनता के लिए नरक का सृजन करने वाले इस देश के अवसरवादी, पदलोलुप और भ्रष्ट रहनुमा अपने गजदन्ती मीनारों में भला कब तक चैन की बंशी बजाते रहेंगे? शायद तब तक, जब तक जनता की सहनशक्ति अपनी चरम सीमा तक न पहुँच जाये।

❑

हँसो हँसो जल्दी हँसो

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है
हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायेगी और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत खुश न मालूम हो
वरना शक होगा कि यह शख़्स शर्म में शामिल नहीं
और मारे जाओगे

हँसते-हँसते किसी को जानने मत दो किस पर हँसते हो
सबको मानने दो कि तुम सबकी तरह परास्त होकर
एक अपनापे की हँसी हँसते हो
जैसे सब हँसते हैं बोलने के बजाय

जितनी देर ऊँचा गोल गुम्बद गूँजता रहे, उतनी देर
तुम बोल सकते हो अपने से
गूँज थमते-थमते फिर हँसता
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे
अन्त में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे और तुम बच जाओगे

हँसो पर चुटकुलों से बचो
उनमें शब्द हैं
कहीं उनमें अर्थ न हों जो किसी ने सौ साल पहले दिये हों

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे
और ऐसे मौकों पर हँसों
जो कि अनिवार्य हों
जैसे गरीब पर किसी ताकतवर की मार
जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता
उस गरीब के सिवाय
और वह भी अक्सर हँसता है
हँसो हँसो जल्दी हँसो
इसके पहले की वह चले जायें
उनसे हाथ मिलाते हुए
नजरें नीची किये
उनको याद दिलाते हुए हँसों
कि तुम कल भी हँसे थे

❑रघुवीर सहाय

उच्च शिक्षा में विदेशी पूँजी को सरकारी न्यौता

□रामू

मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल ने पिछले दिनों अपने एक बयान में कहा था कि जो कार्य पी.वी. नरसिंह राव और मनमोहन सिंह की सरकार ने आर्थिक क्षेत्र में किया था, वही कार्य मैं शिक्षा के क्षेत्र में करना चाहता हूँ। और उन्होंने कर दिखाया। विदेशी शिक्षा संस्थान (प्रवेश और परिचालन का नियमन) विधेयक 2010 इसी का नतीजा है जिसे केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने पारित कर दिया है। 15 अप्रैल से शुरू होने वाले संसद के बजट सत्र के दूसरे चरण में इसे पेश किये जाने की संभावना है। इस विधेयक के पक्ष में दिये जा रहे महत्त्वपूर्ण तर्क इस प्रकार हैं–

विदेशी संस्थान हमारे देश के शिक्षा क्षेत्र में ये पूँजी निवेश करेगें जिससे हमारे देश में उच्च शिक्षा का विस्तार होगा।

भारतीय छात्रों को उच्चस्तरीय विदेशी डिग्री देश में ही सस्ते दामों पर मिलेगी। विदेशी शिक्षा संस्थानों से प्रतियोगिता के चलते, हमारे देश में शिक्षा का स्तर ऊँचा होगा।

इन तर्कों की आड़ में भारत सरकार उच्च शिक्षा की अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहती है। सरकार का यह तर्क कि उच्च शिक्षा के विस्तार के मद में जरूरी खर्च करने की स्थिति में वह नहीं है। जो सरकार देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को मंदी से बचाने के लिए हजारों करोड़ का प्रोत्साहन पैकेज दे सकती है, उसके पास उच्च शिक्षा पर खर्च करने के लिए पैसा नहीं है। इस जिम्मेदारी से बचने की शासकों की मंशा तो तभी सामने आ गयी थी, जब पिछले 20 सालों के दौरान उन्होंने शिक्षा बजट को सकल घरेलू उत्पाद के 4 प्रतिशत से घटकार 3.5 प्रतिशत कर दिया था। कहाँ तो शिक्षा के मद में बजट खर्च बढ़ाकर सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत करना था, कहाँ उसे कम कर दिया गया। उच्च शिक्षा पर बजट खर्च का लक्ष्य सकल घरेलू उत्पाद का 1.5 प्रतिशत रखा गया, जबकि वर्तमान समय में इस पर सिर्फ 0.5 (आधा प्रतिशत) खर्च हो रहा है। उच्च शिक्षा पर सरकारी खर्च को कम करके सरकार एक साथ दो निशाना साधना चाहती हैं। पहला, यह कि उच्च शिक्षा पर खर्च में कटौती से बचे धन को वह देशी-विदेशी मुनाफाखोरों को तरह-तरह की सब्सिडी, प्रोत्साहन तथा करों में छूट देना चाहती है। उसने इस बजट में ऐसा ही किया। दूसरे उच्च शिक्षा को खरीद-बिक्री वाले उपभोक्ता-माल में बदलकर इसे देशी विदेशी मुनाफाखोरों के मुनाफा कमाने का एक आसान जरिया बना रही है। देशी मुनाफाखोरी को तो पहले ही यह इजाजत दी जा चुकी है और उनकी कारगुजारियाँ जग-जहिर हैं। अब विदेशी थैलीशाहों की बारी है।

हमारे देश में उच्च शिक्षा तेजी से फल-फूल रहा मुनाफे का एक नया क्षेत्र बन गया है। भारत में अभी केवल 12 प्रतिशत लोग ही उच्च शिक्षा की दहलीज तक कदम रख पा रहे हैं। एक अनुमान के मुताबिक 1 करोड़ 80 लाख नये लोग उच्च शिक्षा में प्रवेश चाहते हैं। इसके लिए वर्तमान में जो 480 विश्वविद्यालयों और 25,000 कॉलेज हैं उनसे काम नहीं चलने वाला है। इसके लिए 800 नये विश्वविद्यालयों तथा 35,000 नये कॉलेजों की स्थापना करनी होगी। इतने बड़े बाजार, इतनी बड़ी संख्या में ग्राहक और मुनाफे की भरपूर सम्भावना को देशी-विदेशी मुनाफाखोर गिद्ध दृष्टि से देख रहे हैं। इस अरबों खरबों के मुनाफे पर उनकी निगाह लम्बे समय से थी। यह विधेयक उनकी बहुप्रतीक्षित मंशा को पूरा करेगा।

उच्च शिक्षा में विदेशी निवेश की इजाजत देशी शिक्षा के निजीकरण और व्यावसायीकरण की दिशा में एक और कदम है। सरकारी संस्थाओं में फीस बढ़ा कर तथा उच्च शिक्षा में शिक्षा के देशी निजी व्यापारियों को प्रवेश की अनुमति देकर शासक वर्ग पहले ही इस दिशा में काफी आगे कदम बढ़ा चुका है। छात्रों पर इसका क्या प्रभाव हो सकता है, इसको ब्रिटेन और अमरीका में पिछले दस सालों के दौरान उच्च शिक्षा के निजीकरण के दुष्परिणामों से समझा जा सकता है। बीबीसी की एक खबर के अनुसार ब्रिटेन में विश्वविद्यालयों की ऊँची फीस चुकाने के लिए विद्यार्थी वेश्यावृत्ति करने से लेकर गंदी फिल्मों में कार्य करने तक के लिए मजबूर हो रहे हैं। किंगस्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस रोबर्ट्स के सर्वेक्षण में यह चौकाने वाला तथ्य सामने आया है कि ब्रिटेन में उच्च शिक्षा के भारी खर्चों को उठाने के लिए 25 फीसदी विद्यार्थियों को देह व्यापार में उतरने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। साफ है कि पिछले डेढ़-दो दशकों में ब्रिटेन में उच्च शिक्षा के सुधार के नाम पर जिस तरह खुले बाजारीकरण को बढ़ावा दिया गया है, उसके कारण आम विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा का बढ़ता खर्च उठाना दिन पर दिन मुश्किल होता गया है। अमरीकी कॉलेज बोर्ड की एक रिपोर्ट के मुताबिक अमरीका में स्नातक की डिग्री हासिल करने वाले दो-तिहाई छात्रों पर औसतन 20 हजार डॉलर का शिक्षा

कर्ज होता है जबकि उनमें से 10 फीसदी 40 हजार डॉलर से अधिक के कर्ज में डूबे होते हैं।

जाहिर है कि वे वही विदेशी शिक्षण संस्थान हैं जो अपने ही देश के छात्रों से महँगी फीस वसूलने के लिए उन्हें वेश्यावृत्ति की ओर धकेलने से भी नहीं हिचकते। भारत में इन्हें आमंत्रित करने वाले हमारे शासकों और इन विदेशी मुनाफाखोरों की असली मंशा क्या है, यह जानना कठिन नहीं।

उच्च शिक्षा की फीस चुकाने के लिए सरकार ने छात्रों को शिक्षा कर्ज देने की व्यवस्था की हैं। यानी छात्र अपने भविष्य को गिरवी रखकर बैंकों से कर्ज लेंगे और ब्याज चुकायेंगे। इस तरह देशी-विदेशी बैंकों को आसानी से और बिना जोखिम के मुनाफा कमाने का एक नया रास्ता भी सरकार ने खोल दिया।

जहाँ तक उच्च शिक्षा की गुणवत्ता का प्रश्न है, अधिकांश शिक्षा विशेषज्ञ इस बात पर सहमत हैं कि दुनिया के बेहतरीन 50 विश्वविद्यालयों में शायद ही कोई हो जो भारत में अपना परिसर खोलने आये। इनमें से ज्यादातर विश्वविद्यालयों ने अपने ही देश में अपनी कोई शाखा नहीं खोली है। दूसरे और तीसरे दर्जे के विदेशी शिक्षण संस्थानों के ही यहाँ आने की उम्मीद है। उनका मकसद केवल ज्यादा से ज्यादा पैसा बनाना होगा। यह शिक्षा के बाजारीकरण को ही बढ़ावा देगा। किस तरह के विदेशी शिक्षण संस्थान हमारे देश में आयेंगे इसका नमूना पिछले दिनों देखने को मिला। शिक्षा का व्यापार करने वाली 144 विदेशी संस्थाओं ने हमारे देश में उच्च शिक्षा मुहैय्या कराने के लिए अखबारों में विज्ञापन दिये, उनमें से 44 संस्थाएँ ऐसी हैं जो अपने मूल देश में ही न तो प्रमाणित हैं और न ही मान्यता प्राप्त। सच्चाई यह है कि 110 विदेशी शिक्षा प्रदाता तो किसी तरह की सरकारी अनुमति के बिना ही और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, तकनीकी शिक्षा परिषद के दिशा-निर्देशों की धज्जियाँ उड़ाते हुए पहले ही चोर दरवाजे से घुसकर हमारे देश में काम कर रही हैं।

विदेशी शिक्षण संस्थानों को अपनी फीस तय करने, पाठ्यक्रम बनाने, शिक्षक और कर्मचारी भर्ती करने और उनकी सेवा शर्तें तय करने का बेरोकटोक अधिकार होगा। यानी वे छात्रों से मनमानी फीस वसूलने और शिक्षकों कर्मचारियों का निर्बाध शोषण करने के लिए आजाद होंगे। विदेशी संस्थानों के मुनाफे पर रोक लगाने के बारे में सरकार यह कह रही कि उन्हें अपने देश में मुनाफा वापस ले जाने का हक नहीं होगा। पहली बात तो यह है कि यदि वे मुनाफा नहीं कमा सकते हैं तो हमारे देश में आयेंगे ही क्यों? क्या विदेशी थैलीशाह हमारे देश में सदाव्रत बाँटने आ रहे हैं? मुनाफा ले जाने के लिए बहुत सारे अप्रत्यक्ष वैकल्पिक रास्ते विधेयक में ही मौजूद हैं, इसमें विधेयक कंसल्टेंसी आदि के जरिये कमाई गई रकम वापस ले जाने की अनुमति दी गयी है।

विदेशी शिक्षा संस्थान विधेयक में विदेशी शिक्षण संस्थानों को सामाजिक जिम्मेदारियों से भी मुक्त रखा गया है जो देशी विश्वविद्यालयों पर लागू होती है, जैसे- उच्च शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था। विदेशी शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं है। इस स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों और महिलाओं को उच्च शिक्षा से बाहर करने का यह एक अन्य रास्ता है। यदि सरकार इन संस्थानों में आरक्षण लागू करना चाहती है तो उसे आरक्षित वर्गों की पूरी फीस इन संस्थानों को चुकानी पड़ेगी। इससे विदेशी मुनाफाखोरों को सरकारी धन सौंपने का एक और रास्ता खुलेगा। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि विदेशी शिक्षण संस्थान विधेयक उच्च शिक्षा को वैश्विक पूँजी के हितों के अनुकूल ढालने के लिए तैयार किया गया है। राव-मनमोहन द्वारा देश की अर्थव्यवस्था के नये किस्म के पुनः औपनिवेशीकरण तथा साम्राज्यवादीकरण के बाद देश की उच्च शिक्षा को राष्ट्रीय हितों तथा सामाजिक उद्देश्यों से काटकर मुनाफे की वस्तु बनाना है तथा इसे देशी-विदेशी मुनाफाखोरों की सेवा में लगाना है। ❑

अमरीकी जनता को सरकार पर भरोसा नहीं

प्यू रिसर्च सेन्टर द्वारा किए गये एक सर्वे के मुताबिक 80 फीसदी अमरीकी अपनी सरकार पर भरोसा नहीं करते साथ ही उन्हें यह भी भरोसा नहीं है कि संघीय अफसरशाही देश की समस्याओं का सामाधान कर सकती है। 15 अप्रैल को वाशिंगठन में हुई एक सरकार विरोधी रैली में शामिल सिंडी वांटो ने कहा कि राजनेता चुनाव जीतने के लिए वायदे करते हैं और जब जीत जाते हैं तो उन्हें पूरा नहीं करते हैं।

मनचाहा कारिन्दा बनने की ओर

□अशोक मित्र

हमारे देश के राजनेता और उनके साथ-साथ मीडिया भी हमेशा खीझते रहते हैं। क्यों भला, क्यों चीन के प्रति अमरीका सम्मानपूर्ण व्यवहार करता है, जबकि भारत को वह एक ऐसा बच्चा समझता है जो अभी वयस्क सिनेमा देखने लायक नहीं हुआ है! उदाहरण के लिए, हाल की चीन-यात्रा के दौरान बराक ओबामा ने लीक से हटकर इस अमरीकी अवस्थिति को एक बार फिर पुष्ट किया कि तिब्बत चीन का अभिन्न अंग है। उसने मानवाधिकार से जुड़े संवेदनशील मुद्दों की एक पूरी शृंखला से खुद को सावधानीपूर्वक अलग रखा और इण्टरनेट के मुक्त संचार की अपनी अभिलाषा के बारे में केवल विनम्र सुझाव-भर दिया। यहाँ तक कि चीनी अधिकारियों ने भारत-पाक सम्बन्ध की नाजुक स्थिति और कैसे यह एशियाई स्थिरता का अतिक्रमण करता है, इस सन्दर्भ को संयुक्त वक्तव्य में शामिल करने के बारे में अमरीकी राष्ट्रपति को राजी कर लिया। कश्मीर के बारे में धूर्ततापूर्ण इशारा तो बहुत-ही साफ था। लगता है कि चीन में कोई खामी न देखने के लिए अमरीका कृतसंकल्प है। जहाँ तक भारत की बात है, नई दिल्ली अपनी बारी आने पर अलग ही वृतान्त का रोना रोता है। ओबामा तारीफ कर सकता है कि भारत एक उदीयमान विश्व-शक्ति है और अमरीका का अपरिहार्य संश्रयकारी है। वह भारत के प्रधानमंत्री को भव्य प्रीतिभोज से अभिभूत कर सकता है। आज के दौर में भारत के लिए इतना ही काफी है। पिछले अमरीकी प्रशासन द्वारा काफी धूमधाम के साथ जिस नाभिकीय समझौते पर दस्तखत किया गया था, अभी उसे "लागू किया जाना" बाकी है और भारत को एक खास श्रेणी की अत्यधिक संवेदनशील "उच्च" तकनीक देने से लगातार इन्कार किया जा रहा है। भारत पाँच बड़ी नाभिकीय शक्तियों के पक्ष में ईरान के खिलाफ मतदान तो कर सकता है, लेकिन फिर भी यह उनके विशिष्ट क्लब में प्रवेश नहीं पा सकता और अभी तक उसे एक "जिम्मेदार" नाभिकीय शक्ति की मान्यता भी नहीं मिली है।

इस भेदभावपूर्ण पहुँच के लिए अमरीकियों के पास अपने कारण हैं। चीन के पास लगभग 2,300 अरब डॉलर का विशाल भण्डार है जो भारत की तुलना में लगभग दस गुना है। यदि चीन चाहे तो इस पूरे भण्डार को दुनिया के वित्त बाजार में उड़ेलकर अमरीकी अर्थव्यवस्था को तबाह कर सकता है लेकिन इस बात की सम्भावना बहुत कम है, क्योंकि अपने ही हित में चीन यह नहीं चाहेगा कि अमरीका जहाँ वह अपने निर्यात का सबसे बड़ा हिस्सा भेजता है, आर्थिक रूप से ध्वस्त हो जाये। साथ ही अमरीकी आयात का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा चीन से आता है और अमरीकी नागरिकों को कम दाम वाले चीनी उपभोक्ता सामानों से प्यार हो गया है। बेरोजगारी में कमी का कोई लक्षण दिखायी नहीं देने की स्थिति में अमरीकी राष्ट्र की खुशहाली बनाये रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं की कीमतों का स्थिर बने रहना जरूरी है। इस स्थिरता को बनाये रखने के लिए चीन से होने वाला आयात सबसे ज्यादा मददगार है। लगभग उतना ही महत्त्वपूर्ण या शायद इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, चीन में अमरीकी निवेश की भारी मात्रा जो हर वर्ष 80 अरब डॉलर के करीब है।(भारत में यह हर वर्ष 8 अरब डॉलर भी नहीं पहुँचा है।) घरेलू अर्थव्यवस्था की डाँवाँडोल स्थिति को देखते हुए अमरीकी प्रशासन की दिली इच्छा चीन में निवेश की मात्रा को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना है। यदि अमरीकी राष्ट्रपति को इसके लिए कठिन परिश्रम करके चीनी नेताओं के साथ समर्थन जुटाना पड़े और उनको कुछ ज्यादा ही खुश रखना पड़े तो भी वह ऐसा जरूर करेगा।-अपनी क्षमताओं के आधार पर चीन अब एक महाशक्ति है और इसी के अनुरूप उसे यथोचित महत्त्व प्रदान किया जाता है।

लगभग 20 वर्षों में जब चीनी अर्थव्यवस्था बढ़कर अमरीका के बराबर हो जायेगी और इसके सैन्य कौशल में भी वैसी ही विशाल वृद्धि हो जाएगी तो अमरीका के लिए एक अनिवार्य रणनीतिक संश्रयकारी के रूप में भारत वास्तव में बहुत ज्यादा जरूरी हो जाएगा, ताकि वह चीन के रोब-दाब से मुकाबला कर सके।

आने वाले समय में क्या होगा और क्या नहीं यह आज अमरीका की कार्यसूची का हिस्सा नहीं है। आज की स्थिति में भारत उसकी एक सीमित जरूरत ही पूरा कर सकता है। इसके पास भारी संख्या में मानव शक्ति है और 10 लाख से भी अधिक की सेना है, पश्चिमी और दक्षिणी एशिया में तालिबान के घुसपैठ से निपटने के लिए इस मानव शक्ति का प्रयोग करना आसान है। अमरीका का इराक और अफगानिस्तान में उलझना अमरीकी मतदाताओं को दिन-प्रति-दिन नाराज करता जा रहा है। एशिया में किया जा रहा यह युद्ध खत्म करना और सेना को वापस बुलाना जरूरी है। अमरीका चाहता है कि तालिबान के विश्वव्यापी आंतकवाद के खिलाफ अमरीका और पाकिस्तान की विराट धर्मसंधि में भारत भी शामिल हो। अमरीकी कूटनीति इस मान्यता के आधार पर आगे बढ़ रही है कि मोल भाव करने में भारत की

तुलना में वह फायदेमन्द स्थिति में है। यदि भारत "जिम्मेदार" नाभिकीय शक्ति के मनमोहक दायरे में प्रवेश पाने के लिए और इस्तेमाल हो चुके नाभिकीय ईंधन का बेरोकटोक पुनः प्रसंस्करण करने के लिए अमरीका की सहमति प्राप्त करना चाहता है तो इसके लिए उसे कीमत चुकानी पड़ेगी। यह कीमत होगी अमरीकी विदेश नीति को समर्थन देना और इसके अगले कदम के रूप में अफगानिस्तान की लड़ाई में अपनी सेना भेजने के लिए तैयार रहना।

भारत एक उलझन में फँसा हुआ है। प्रधानमंत्री ने साफ कहा है कि इस क्षेत्र में तालिबान उसी तरह वैश्विक आतंकवाद की नुमाइन्दगी करता है, जिस तरह लश्कर-ए-तोइबा। एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने अमरीका और उसके संश्रयकारियों से याचना की है कि इस कठिन मोड़ पर वे अफगानिस्तान से अपनी सेनाएँ न हटाएँ। इस पर अमरीका पलट कर कह सकता है– और शायद उसने कह भी दिया है– कि इसकी तार्किक परिणति के रूप में भारत अगला कदम उठाये और अफगानिस्तान में अपनी सेना भेजे। यहाँ तक कि अमरीका एक और खेल-खेलने की स्थिति में है। अमरीकी चाहते रहे हैं कि भारत और पाकिस्तान कश्मीर मुद्दे पर आपस में समझौता कर लें। अमरीका की राय है कि इस मामले में भारत की ओर से समस्या कहीं ज्यादा है। भारत कश्मीर घाटी को अपना "अभिन्न" अंग बताता रहा है। कश्मीर मुद्दे पर समझौता कर लेने से देश के भीतर जो प्रतिक्रिया होगी उससे वह चिन्तित है। इस बारे में इशारा भी किया जा चुका है कि भारत पहले पाकिस्तान के साथ अपनी दुश्मनी को दफन करे और कश्मीर मुद्दे का समाधान निकाले, फिर नाभिकीय समझौता आगे बढ़ेगा।

इस तरह नाभिकीय समझौता, कश्मीर और अफगानिस्तान सम्बन्धी मुद्दे आपस में गुथ गये हैं। भारत इस बात के लिए व्यग्र है कि विभिन्न देशों के शिष्ट मण्डल में उसे यह मान्यता मिले कि चीन की तरह वह भी एक बड़ी और "जिम्मेदार" ताकत है। लेकिन वह इस स्थिति में तभी पहुँच सकता है जब अमरीका इसकी गारण्टी करे। अमरीका ने इस काम के लिए कीमत तय की है– भारत को अफगानिस्तान में सेना भेजने पर राजी होना होगा और साथ ही कश्मीर मुद्दे पर उसे पाकिस्तान के साथ समझौता करना होगा। भारत-पाक सन्धि, जो कश्मीर मुद्दे को पृष्ठभूमि में धकेल देगी, अमरीका के लिए दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है– यह पाकिस्तान के शासकों का ध्यान तालिबान से निपटने पर केन्द्रित करने में मदद करेगी, साथ ही यह भारत की सैन्य टुकड़ी को अफगानिस्तान में तैनात करने को लेकर पाकिस्तान की अति संवेदनशीलता को कम करेगी।

चूँकि अमरीका द्वारा लगायी गयी इन दोनों स्पष्ट शर्तों को पचा पाना भारत के लिए कठिन है, इसलिए सम्भव है कि भारत हीला-हवाली करता रहे। आसार बहुत आशाजनक नहीं हैं और इसे महसूस भी किया जाने लगा है। एक नाजुक स्थिति में धकेल दिये गये हमारे प्रधानमंत्री ने दयनीय आत्मसंतुष्टि की मनोदशा में अमरीकी श्रोताओं के सामने कहा कि उनके देश की अर्थव्यवस्था भले ही उतनी बड़ी नहीं हैं जितनी चीन की, भारत के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर भले ही उतनी ज्यादा नहीं है जितनी चीन की, लेकिन यह एक स्वतंत्र बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी, बहुनृजातीय लोकतंत्र है और यह सभी मानवाधिकारों का सम्मान करता है। खुदा का शुक्र कि प्रधानमंत्री को उस भाषण के लेखक ने मेहरबानी करके सभ्यता के पाँच हजार वर्षों का, गौतम बुद्ध का और गाँधी का महत्त्व, का बखान नहीं किया।

महाशक्ति न तो रिरियाती है और न ही खुद अपना ढिंढोरा पीटती हैं। खैर, जो कुछ भी दिखाने के लिए कहा जाता है, उसके विपरीत असलियत यह है कि जब व्यावहारिक मुद्दे सामने हों तो अमरीकी मानवाधिकार को कोई खास तरजीह नहीं देते। अतीत में न तो लातिन अमरीका में उन्होंने मानवाधिकार की कोई परवाह की और न ही वे आज इराक और अफगानिस्तान में कर रहे हैं। उनकी ज्यादा रुचि इस बात में है कि चीन अभी इस वक्त अमरीकी अर्थव्यवस्था के लिए क्या कर सकता है, मानवधिकार की ऐसी-तैसी।

ऐसी बात नहीं है कि भारत को व्यावहारिक राजनीति के इन जरूरी तथ्यों की समझ नहीं है। कमजोर ढंग से ही सही, भारतीय अधिकारी अपना संदेश अमरीका को पहुँचा रहे हैं। मुनाफे में चलने वाले सार्वजनिक उपक्रमों को आदेश दिया गया है कि वे अपने मालिकाने का 10 फीसदी निजी हाथों में सौंप दें। सार्वजनिक क्षेत्र के सभी निगमों को शेयर बाजार में पंजीकृत कराना जरूरी कर दिया गया है, जो अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी को और खासतौर पर अमरीकी पूँजी को खुला आमंत्रण है कि वे भारत आये और यहाँ के भव्य पूँजी-निवेश में साझीदारी करें। बैंक और बीमा क्षेत्रों को भी थाल में सजाकर विदेशी पूँजी, जिसका असली अर्थ है अमरीकी पूँजी, के आगे परोस दिया गया है। कोपेनहेगन में भारत निस्संकोच अपने को अमरीकी पक्ष से नत्थी कर सकता है।

लेकिन खुद को अमरीका की निगाह में एक मनचाहा कारिन्दा साबित करने के लिए भारत को और भी बहुत कुछ करना होगा और यह केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं होगा। उन शर्तों में एक यह है कि भारत को अफगानिस्तान में अपनी सेना भेजनी होगी ताकि अमरीकी सिपाही अपने घर वापस जा सकें।

(दि टेलीग्राफ, 4 दिसम्बर 2009 से साभार)

❑अनुवाद : अरविन्द

नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक–2010
किसकी करनी किसकी भरनी

□ज्ञानेन्द्र

"यदि किसी व्यक्ति का कोई बरताव किसी दूसरे व्यक्ति को नुकसान पहुँचाता है या नुकसान पहुँचा सकता है, तो ऐसी कार्रवाई में लिप्त व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को हुए नुकसान की भरपाई करनी होगी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसने सावधानी बरती थी।"

यह उत्तरदायित्व "सिर्फ प्रदूषण के शिकार व्यक्ति को मुआवजा देने तक सीमित नहीं, बल्कि इसमें पर्यावरण के क्षरण की भरपाई और उसकी पुनर्स्थापना भी शामिल है।"

–सुप्रीम कोर्ट, नागरिक कल्याण मंच, वेल्लोर बनाम भारत सरकार(1996)

वामपन्थी पार्टियों, भाजपा, और कांग्रेस सरकार के अपने ही संश्रयकारियों के भारी विरोध को देखते हुए सरकार को नाभिकीय दुर्घटना नागरिक उत्तरदायित्व विधेयक–2010 को संसद में पारित करवाने के अपने प्रयासों पर लगाम लगानी पड़ी। सम्भवतः अब इसे किसी संसदीय समिति के सुपुर्द कर दिया जायेगा जो इससे जुड़े मुद्दों पर शासक वर्ग की इन पार्टियों के बीच आम राय बनाने का प्रयास करेगी।

यह कोई पहली बार नहीं है जब हड़बड़ाहट में कोई विधेयक लाने की कोशिश की गयी। हाल ही में बीटी बैंगन को लेकर भी इसी तरह की हड़बड़ी देखी गयी। भारत-अमरीका परमाणु करार का तो पूरा इतिहास ही इसकी मिसाल है। देश-विदेश के पिछले अंकों में हम इसके पीछे के कारणों का विस्तार से खुलासा कर चुके हैं।

नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक की चार उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं–

1. नाभिकीय दुर्घटना चाहे जितनी विनाशकारी हो, विधेयक में उसके लिए केवल 2300 करोड़ रुपये लगभग 46 करोड़ डॉलर का अधिकतम मुआवजा निर्धारित किया गया है। भारत सरकार दुर्घटना के आंकलन के आधार पर इसमें अधिकतम 100 करोड़ रुपये और बढ़ा सकती है। इस मुआवजे में नाभिकीय संयंत्र के संचालक की जिम्मेदारी 500 करोड़ रुपये मात्र निर्धारित करके विधेयक में सुरक्षा उत्तरदायित्व को मजाक बना दिया गया है।

2. दुर्घटना की जिम्मेदारी से संयन्त्र के डिजाइनर, निर्माता और आपूर्तिकर्ता को मुक्त करते हुए विधेयक में केवल संयन्त्र के संचालक पर ही जिम्मेदारी डालने की पेशकश की गयी है।

3. यह विधेयक दुर्घटना के कारणों और उसके विनाश का आंकलन करने की पूरी जिम्मेदारी परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड पर छोड़ देता है।

4. यह विधेयक दुर्घटना होने के बाद केवल 10 सालों के लिए संचालक को जिम्मेदार ठहराता है जबकि विकिरण के प्रभाव लम्बे समय तक बने रहते हैं।

विधेयक में मुआवजे की अधिकतम सीमा तय कर देने का मतलब है कि इससे ज्यादा नुकसान की जिम्मेदारी खुद पीड़ित को उठानी होगी जबकि किसी भी तरह से उन्हें दुर्घटना के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। कोढ़ में खाज यह कि परमाणु दुर्घटना जितनी विनाशकारी और भयावह होती है और जितनी बड़ी आबादी को अपनी चपेट में लेती है, उसकी तुलना में मुआवजे की निर्धारित रकम पीड़ितों के प्रति एक भद्दे मजाक जैसी लगती है।

चेर्नोबिल दुर्घटनाः एक महाविनाश की दास्तान

नाभिकीय संयन्त्र में होनी वाली दुर्घटनाएँ कितनी विनाशकारी हो सकती हैं रूस की चेर्नोबल दुर्घटना इसकी जीती-जागती मिसाल है। इस दुर्घटना में 65000 लोग मारे गये और आज भी हर साल इनकी संख्या बढ़ रही है। यह संख्या भारत में हुए भोपाल गैस काण्ड में मरने वालों से 3 गुना ज्यादा है। इस दुर्घटना में न सिर्फ हजारों लोग मारे गये, बल्कि पशु-पक्षी, पर्यावरण और आधारभूत ढाँचे को भी भारी क्षति पहुँची। विशाल भूभाग लम्बे समय के लिए उजाड़ हो गये। अलग-अलग अनुमानों के मुताबिक सैकड़ों से लेकर हजारों अरब डॉलर का नुकसान हुआ। शुरुआती आंकलन में यूक्रेन की सरकार ने 250 अरब डॉलर के नुकसान का अनुमान लगाया था, लेकिन बाद में रेडियोएक्टिव धूल के कारण होने वाले कैंसर और जीन-नाश जैसे मामले सामने आने लगे। न सिर्फ रूस में मौतें हुईं बल्कि सुदूर स्काटलैण्ड में हजारों भेड़ें और उत्तरी

स्वीडन में रेंडियर इसलिए मारने पड़े क्योंकि उन्होंने रेडियोएक्टिव विकिरण से प्रदूषित घास खा ली थी। इन दूरस्थ और दीर्घकालिक परिणामों को भी शामिल करके शोधकर्ताओं ने अन्दाजा लगाया है कि अगर चेर्नोबल जैसी दुर्घटना जर्मनी में होती तो इससे होने वाला नुकसान 2 से 5 हजार यूरो तक हो सकता था जो दुनिया की इस तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के एक साल के सकल घरेलू उत्पाद के बराबर है।

भारत में आबादी और भी ज्यादा सघन हैं। यहाँ ऐसी किसी दुर्घटना से निपटने और इलाज इत्यादि की समुचित व्यवस्था भी नहीं है, इसलिए अगर हमारे देश में कोई दुर्घटना घटती है तो वह चेर्नोबल से भी ज्यादा विनाशकारी साबित होगी। रेडियोएक्टिव धूल के बादल हवा की रफ्तार और दिशा के हिसाब से सैकड़ों मील तक जा सकते हैं और सालों तक अपनी विनाशलीला दिखा सकते हैं।

भारत में दुर्घटना की संभावना

भारत के परमाणु ऊर्जा मंत्रालय की छत्रछाया में नाभिकीय दुर्घटनाओं और अपने ही बनाये सुरक्षा नियमों के उल्लंघन का एक लम्बा इतिहास मौजूद है। अगर अभी तक कोई बड़ी दुर्घटना नहीं घटी तो यह महज एक संयोग ही है, क्योंकि इनमें से कोई भी दुर्घटना चेर्नोबल जैसी भयावह तबाही ला सकती थी।

अभी तक भारत के परमाणु संयन्त्रों में काम करने वाले हजारों मजदूर खुद मंत्रालय द्वारा निर्धारित सीमा से ज्यादा विकिरण झेल चुके हैं। दि टाइम्स ऑफ इण्डिया की एक रिपोर्ट के मुताबिक अकेले तारापुर में 1982 तक 350 ऐसे मामले सामने आ चुके थे। परमाणु संयन्त्रों में हुई दुर्घटनाओं में टरबाइन वाले कमरे में आग लगना (नरौरा में), संयन्त्र से होने वाले रिसाव के फैलाव को रोकने के लिए बनायी जा रही कंक्रीट के विशाल गुम्बद का ढह जाना (केगा में), संयन्त्र में पानी भर जाना (राजस्थान) और 14 टन रेडियोएक्टिव भारी जल का बिखर जाना (चेन्नई में) जैसी दुर्घटनाएँ शामिल हैं जो तबाही लाने की पूरी सम्भावना रखती थीं।

भारत सरकार का रवैय्या

1962 के परमाणु ऊर्जा कानून के जरिये मंत्रालय गोपनीयता के नाम पर सूचनाओं को दबाता है। इस सुरक्षा बदइन्तजामी को ढँकने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाये जाते हैं। असुविधाजनक तथ्य तब तक छुपाये जाते हैं जब तक वे जनता द्वारा या मीडिया में मुद्दा नहीं बनते, जब मामला सामने आ ही जाता है तो उसकी गम्भीरता को स्वीकार नहीं किया जाता है तथा स्वास्थ्य और पर्यावरण पर उसके दुष्प्रभावों को कम करके बताया जाता है। साथ ही संयन्त्र की डिजाइन के फेल होने और नाभिकीय तकनीक से जुड़ी दिक्कतों की ओर से ध्यान हटाने की भी कोशिश की जाती हैं और पूरे झमेले से बचने के लिए ठेके पर मजदूर रखे जाते हैं जिनके न तो कोई अधिकार होते हैं और न ही वे सुरक्षा इन्तजाम के बारे में कोई सूचना माँग सकते हैं।

यह है भारत सरकार का नाभिकीय दुर्घटनाओं के प्रति रवैय्या। अपनी गलती को स्वीकार करने के बाद ही उसे ठीक करने के उपाय की बात आती हैं। उल्टे हमारी सरकार खुद ही अपनी पीठ थपथपाती दिखायी देती है–

"सुरक्षा को सब गतिविधियों के ऊपर वरीयता प्राप्त है। सभी नाभिकीय संयन्त्रों की डिजाइन, निर्माण और संचालन में सुरक्षा मानकों और गुणवत्ता का कड़ाई से पालन किया जाता है. .. परिणामस्वरूप परमाणु बिजलीघरों और अन्य गतिविधियों के 260 रिएक्टर-वर्ष से ज्यादा के संचालन के दौरान भारत का सुरक्षा रिकार्ड शानदार रहा है।"

–भारत सरकार की अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी की रिपोर्ट, 2007

स्पष्ट है, भारतीय शासक नाभिकीय दुर्घटनाओं को लेकर पूरी तरह संवेदनहीन हैं। जान-माल की भयावह तबाही से ज्यादा उन्हें अपने आकाओं के साथ मिलकर जनता की गाढ़ी कमाई के धन को लूटने की चिन्ता है। नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक इन लुटेरों को और साथ ही उनके लूट के धन को भी बचाने की कोशिश है, जनता के नुकसान की भरपाई तथा देश के पर्यावरण और सम्पदा की रक्षा करना उसके उद्देश्य नहीं है। अगर ऐसा होता तो पहले सरकार परमाणु दुर्घटना की भयावहता और हमारे देश में सुरक्षा बदइन्तजामी को स्वीकार करती– उसको 2300 करोड़ रुपये की भीख तक सीमित नहीं कर देती, जो भोपाल गैस काण्ड के पीड़ितों को लम्बी लड़ाई के बाद मिले मुआवजे की रकम की एक तिहाई से भी कम बनती है।

झूठ-फरेब-विश्वासघात

देश की केवल 3 से 6 प्रतिशत ऊर्जा जरूरतों को पूरा करने वाली नाभिकीय ऊर्जा, सस्ते वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों के मौजूद होने के बावजूद, इतनी भारी कीमत चुकाकर और इतना अधिक खतरों की सम्भावना होते हुए भी क्यों आयात की जा रही है? इस नाभिकीय ऊर्जा के लिए देश की सम्प्रभुता के साथ कैसे-कैसे समझौते किये गये, इसकी कहानी को यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं है। भारत के शासक जनता की आँखों में धूल झोंक कर, झूठ और फरेब का सहारा लेकर उसे एक ऐसी भयावह गुलामी की ओर धकेल रहे हैं जिसकी कोई और मिसाल मिलना मुश्किल है।

चेर्नोबल दुर्घटना के बाद अमरीका में कोई नया परमाणु संयन्त्र नहीं बनाया गया है। यूरोप के अधिकांश देश परमाणु ऊर्जा से तौबा कर चुके हैं। संकट का सामना कर रहे अमरीकी नाभिकीय उद्योग को भारत में विस्तार की जगह देकर भारत सरकार ने अपनी प्रतिबद्धता जाहिर कर दी है। 200 साल की लम्बी गुलामी के बाद आजाद देश की जनता ने जिनके हाथ में देश की कमान सौंपी, जिन्हें अपना रहनुमा माना, उन्होंने ही उसके साथ विश्वासघात किया।

वैश्विक नाभिकीय उद्योग की कम्पनियों ने अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी के जरिये हाल ही में 'पूरक मुआवजा सम्मेलन' प्रायोजित किया था जिसमें 1960 के दशक में पेरिस और वियेना में तय किये गये फ्रेमवर्क के भीतर नाभिकीय दुर्घटना के मुआवजे की रकम फिर से निर्धारित की गयी। इस सम्मेलन ने अधिकतम मुआवजे की राशि 98 करोड़ डॉलर (लगभग 4700 करोड़ रुपये) निर्धारित की जो पहले से दो गुनी थी।

हमारे देश के विज्ञान और तकनोलॉजी मंत्री पृथ्वीराज चव्हाण साम्राज्यवादी देशों की कम्पनियाँ द्वारा प्रायोजित इस सम्मेलन को एक परखी हुई, व्यापक सम्मान प्राप्त अन्तरराष्ट्रीय सन्धि बताते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि 1977 से आज तक केवल 13 देशों ने इस पर हस्ताक्षर किये हैं और केवल 4 देशों (अमरीका, अर्जेण्टीना, मोरक्को और रूमानिया) ने इसकी पुष्टि की है जिसके चलते यह सन्धि कभी प्रभावी नहीं हो पायी (क्योंकि इसके लिए कम से कम 5 देशों द्वारा पुष्टि जरूरी थी।) अधिकांश देशों के अपने मुआवजा कानून हैं और निर्धारित मुआवजे की रकम इससे ज्यादा है। जर्मनी, स्वीडन और आस्ट्रेलिया में मुआवजे की कोई सीमा तय नहीं है। अमरीका में मुआवजा फण्ड 1070 करोड़ डॉलर रखा गया है।

इस तरह हमारे देश में मुआवजे की अधिकतम रकम तय करते समय अधिकतम मुआवजे के उदाहरण का अनुसरण करने के स्थान पर एक कागजी सन्धि को आधार बनाया गया है और अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी जैसी नाभिकीय उद्योग की एजेण्ट संस्था पर भरोसा किया गया हैं जो सालों तक यही कहती रही कि चेर्नोबिल दुर्घटना में केवल 30 लोग मरे हैं और आज भी दुर्घटना के प्रभावों के आकलन में विश्व स्वास्थ्य संगठन को शामिल नहीं करती। इन संस्थाओं और नाभिकीय उद्योग के प्रति अपनी वफादारी दिखाये हुए भारतीय शासक वर्ग ने न सिर्फ इनके द्वारा निर्धारित मुआवजे की अधिकतम राशि की आधी रकम ही मुआवजे के लिए तय की है, बल्कि उन्हें दुर्घटना के पूरे उत्तरदायित्व से भी मुक्त कर दिया गया है-- क्योंकि विधेयक में संयन्त्र का डिजाइन बनाने वाले, निर्माता और आपूर्तिकर्ता उत्तरदायित्व से मुक्त रखे गये हैं। मुनाफा उनका, नुकसान हमारा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के दौरान भी छल-फरेब की ऐसी मिसाल मिलना मुश्किल हैं।

चूँकि अमरीका और यूरोप ने नाभिकीय ऊर्जा से तौबा कर लिया है और वे अब कोई नये रिएक्टर नहीं बना रहे हैं, इसलिए सुरक्षा को लेकर भी वे उतने चिन्तित नहीं हैं। यही वजह है कि नाभिकीय रिएक्टर तकनीक के 60 वर्ष पूरे हो जाने के बावजूद भी सुरक्षा तकनीक में कोई खास उपलब्धि नहीं हासिल की जा सकी है। अगर डिजाइनर, निर्माता और आपूर्तिकर्ता को जिम्मेदार ठहराया जाता तो वे सुरक्षा के इन्तजाम करते, लेकिन विधेयक में उनकी जिम्मेदारी को हर तरह से कम करने की कोशिश उनके साथ देश के रहनुमाओं की मिलीभगत को ही उजागर करती है।

परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड एक नखदन्तहीन संस्था

इस विधेयक के अनुसार दुर्घटना के प्रभावों और नुकसान के आंकलन की जिम्मेदारी 'परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड' की होगी। यह कोई उत्तरदायी संस्था नहीं है बल्कि परमाणु ऊर्जा आयोग के अधीन है। न तो इसका अपना कोई स्वतंत्र स्टाफ है, न बजट और न ही अपने साधन। परमाणु ऊर्जा मंत्रालय का अध्यक्ष ही परमाणु ऊर्जा आयोग का भी अध्यक्ष होता है। इसलिए परमाणु ऊर्जा मंत्रालय बिना किसी स्वतंत्र नियामक संस्था और सुरक्षा लेखा-जोखा के एक निरंकुश संस्था की तरह काम करता है।

परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड के पूर्व-अध्यक्ष ए. गोपाल कृष्ण के शब्दों में, "बोर्ड की मूल्यांकन समितियों के 95 प्रतिशत सदस्य मंत्रालय के वेतनभोगी वैज्ञानिक और इंजीनियर हैं। इस निर्भरता का इस्तेमाल मंत्रालय सोचे-समझे तरीके से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर, बोर्ड द्वारा किये जाने वाले सुरक्षा आंकलन और उसके फैसलों को प्रभावित करने के लिए करता है। मंत्रालय का यह हस्तक्षेप कई रूपों में अभिव्यक्त होता है-- सुरक्षा मामलों के प्रति बोर्ड की गम्भीरता को हल्का करना, दुर्घटना से बचने के लिए आवश्यक मरम्मत पर बोर्ड द्वारा तब तक जोर नहीं दिया जाना जब तक मंत्रालय की अपनी योजना में उसका समय न आ जाय और सबसे बुरी बात, नागरिक सुरक्षा के लिहाज से संयन्त्र को तुरन्त बन्द करके उसकी मरम्मत करने पर जोर देने के बजाय बोर्ड द्वारा उत्पादन जारी रखने की अनुमति देना" (1999)

1994 में कैगा, कर्नाटक में रिसाव रोकने के लिए बनायी जा रही गुम्बद के ढह जाने के मामले में गोपाल कृष्णन बताते हैं-- " जब बोर्ड के अध्यक्ष के तौर पर मैंने एक स्वतंत्र विशेषज्ञ समिति को जाँच के लिए नियुक्त कर दिया तो परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष चाहते थे कि उसे वापस ले लिया जाये और इस मामले को नाभिकीय ऊर्जा आयोग द्वारा गठित समिति को सौंप दिया जाये। मंत्रालय ने प्रधानमंत्री को भी शिकायत की और मुझे पीछे हटने के लिए बाध्य करने की कोशिश की।"(1999)

अन्ततः बोर्ड की सिफारिशें नजरअंदाज कर दी गयीं। "बोर्ड ने मंत्रालय को निर्देश दिया था कि वह कैगा के दोनों रिएक्टरों और दो अन्य रिएक्टरों में, उन्हें चालू करने के पहले, कोर को ठण्डा करने की पूरी व्यवस्था का परीक्षण कर ले। बोर्ड यह भी चाहता था कि रिएक्टर के

चालू होने के पहले रिसाव का भी परीक्षण करके देख लिया जाये और संचालक कर्मचारियों की ट्रेनिंग के लिए एक पूरा मॉडल भी संयन्त्र के भीतर स्थापित किया जाये। अभी तक इनमें से किसी भी निर्देश का पालन नहीं किया गया है।'' (1999)

जाहिर है कि परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड एक नखदन्तहीन संस्था है। उसके आंकलन और निर्देश कागजी खानापूर्ति से ज्यादा कोई अर्थ नहीं रखते। 'अव्वल तो वह मंत्रालय की इच्छा के विरुद्ध कुछ बोलता ही नहीं है, लेकिन अगर कुछ बोले तो उससे निपटने के लिए पर्याप्त व्यवस्था सरकार के पास मौजूद है।' जब हमारी सरकार का मंत्रालय उसके निर्देशों पर अमल नहीं करता तो वह किसी विदेशी कम्पनी से भला क्यों करवाने लगा।

पूरा का पूरा नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक भारतीय जनता के साथ देश के स्वेच्छाचारी शासकों द्वारा किया गया एक अश्लील मजाक है। इसका मकसद दुर्घटना को रोकना या उससे होने वाले नुकसान की भरपाई करना नहीं, बल्कि वैश्विक नाभिकीय उद्योग में लगी साम्राज्यवादी पूँजी को भावी दुर्घटनाओं से होने वाले जान-माल और पर्यावरण के नुकसान की भरपाई की जिम्मेदारी से कानूनी तौर पर मुक्त करना है। देश की जनता से वसूले गये पैसे में से ही कुछ भीख के टुकड़े फेंककर देश का सत्ता प्रतिष्ठान साम्राज्यवादी पूँजी और उसके भारतीय संश्रयकारियों को बचा लेना चाहता है। भोपाल गैस काण्ड की त्रासदी के आँसू अभी तक नहीं पोंछे जा सके हैं। भारत की जनता को एक और भी भयावह विभीषिका की ओर धकेला जा रहा है।

पहले भारत-अमरीका परमाणु करार और अब नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक भारतीय शासन व्यवस्था के पूँजीवाद साम्राज्यवाद समर्थक, जनविरोधी चरित्र को उजागर कर देते हैं। देश की जनता के प्रति उसके खोखले सरोकार का पर्दाफाश हो चुका है। थोड़े-बहुत संशोधनों और लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के खेल के बाद जैसे परमाणु करार देश की जनता पर थोप दिया गया, वैसे ही नाभिकीय उत्तरदायित्व विधेयक भी थोप दिया जायेगा।

भारतीय शासक वर्ग देश के मेहनतकशों, गाँव के गरीबों और आम लोगों के बीच अपनी साख खोता जा रहा है, उसकी जड़ें अब भारत की जनता में नहीं रही। वह साम्राज्यवादियों से नाभिनालबद्ध हो चुका है। उन्हीं के कहने पर और उन्हीं के हित में कदम उठाता जा रहा है। जनता की तटस्थता और निष्क्रियता के चलते उनके सामने आज कोई चुनौती भी नहीं है। लेकिन वक्त हमेशा एक जैसा नहीं रहता, हवाएँ रुख बदलती हैं और हर उमस के बाद एक तूफान उठता है जो अपने को मजबूत समझने वाले दरख्तों को भी उखाड़ फेंकता है। तूफान कभी मात नहीं खाते।

❑

संसद से बाहर एक और समझौता

भारत-अमरीका परमाणु समझौते की शृंखला में एक और समझौता जुड़ गया। इस नये समझौते के तहत अमरीका से प्राप्त परमाणु ईंधन को दुबारा इस्तेमाल करने के लिए भारत को अमरीका की इजाजत लेनी होगी।

अमरीकी राष्ट्रपति इस समझौते पर अपने देश की संसद से राय लेंगे, लेकिन भारतीय संसद को इस पर जुबान खोलने या अपनी सहमति-असहमति प्रकट करने की अनुमति नहीं है।

यह कोई नयी बात नहीं, पहले भी संसद के बाहर सरकार ने अमरीका के साथ कई सारे समझौते किए हैं। नाभिकीय उत्तरदायित्व समझौते के मुद्दे पर सरकार को इसलिए संसद में जाना पड़ा, क्योंकि इसके लिए संसद से कानून बदलवाना जरूरी था। भोपाल गैस त्रासदी के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया था कि किसी भी औद्योगिक दुर्घटना के लिए जिम्मेदार किसी भी देशी-विदेशी कम्पनी पर उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व होगा। नाभिकीय उत्तरदायित्व के मामले में विदेशी कम्पनियों को दायित्व से मुक्त करने के लिए सरकार को नया कानून बनाना जरूरी था।

संसद की भूमिका नए कानून के पक्ष में वोट देने और वित्तीय बिल पारित करने तक रह गयी है। किसी भी अन्तरराष्ट्रीय समझौते की जाँच-पड़ताल और उसके फायदे-नुकसान पर सोचे बगैर उसे हूबहू स्वीकार लेना ही देश और संसद की नियति हो गयी है।

अमरीका के साथ नाभिकीय समझौता -123 के अधीन अभी तक भारत को ईंधन आपूर्ति की गारण्टी नहीं मिली है। परमाणु बिजली घरों में तारापुर संयंत्र की तरह ही ताला लग सकता है, क्योंकि यह पूरी तरह अमरीका पर नियंत्रित होगा कि वह ईंधन देगा या नहीं। 1963 के 123 समझौते में अमरीका ने जो किया था वही इस समझौते में भी है। भारत को ईंधन आपूर्ति करना या बन्द करना अमरीका की मर्जी पर है। इसी के कारण 1963 में अमरीका की मदद से स्थापित तारापुर परमाणु रिएक्टर बन्द करने पड़ थे। भारत किन्हीं भी परिस्थितियों में इन शर्तों का उल्लंघन नहीं कर सकता, जबकि अमरीका को यह अधिकार है कि अगर उसे लगता है कि भारत शर्तों का उल्लंघन कर रहा है तो अमरीका किसी भी समझौते को रद्द कर सकता है।

आज भी तारापुर में 40 सालों से अमरीका से आयातित एक बार इस्तेमाल हो चुके ईंधन का ढेर लगा हुआ है। भारत तब तक उनका इस्तेमाल नहीं कर सकता जब तक अमरीका पुनर्प्रसंस्करण सुविधाएँ दुबारा शुरू न करे। इस समझौते में प्रावधान है कि भारत को पुनर्प्रसंस्करण की अनुमति तभी दी जायेगी जब भारत सरकार दो नयी पुनर्प्रसंस्करण इकाइयाँ स्थापित करे। इन इकाइयों की स्थापना अमरीकी समझौते के अनुरूप ही हो सकती है। जाहिर है कि भारत को मनमानी कीमतों पर अमरीकी कम्पनियों का ही संयंत्र खरीदना होगा। समझौते में यह भी निहित है कि भारत को अपने परमाणु संयंत्रों की लगातार अन्तरराष्ट्रीय निगरानी और सम्पुष्टि की अनुमति देनी होगी।

कुल मिलाकर यह समझौता भारत की अमरीकापरस्त समर्पणवादी विदेश नीति की अनिवार्य परिणति है और भारतीय लोकतंत्र पर एक और काला धब्बा है।

❑

रूस-अमरीका अप्रसार सन्धि : विश्व शान्ति का ढकोसला

❑अमरपाल

कल्पना कीजिए एक इलाके में दो बाहुबली हैं जिनके पास दस-दस आधुनिक हथियार हैं। बाकी इलाके में कुछ लोगों के पास एक-आध कट्टा या दुनाली बन्दूक है। ढेर सारे ऐसे भी लोग हैं जिनके पास हथियार नहीं हैं, अचानक दोनों बाहुबली घोषणा करते हैं कि वे अपने तीन-तीन हथियार खत्म कर देंगे ताकि इलाके में अमन-चैन कायम हो। बदले में वे सभी को अपने-अपने हथियार समाप्त करने और आगे से किसी को भी नये हथियार न रखने को कहते हैं। दो ऐसे लोगों को जो उनकी मर्जी के खिलाफ जाकर अपनी हिफाजत के लिए हथियार रखने का मन बना चुके हैं और इसके लिए कोशिश भी कर रहे हैं वे बाहुबली बुरी तरह धमकाते हैं। इसे हम क्या समझें? क्या इस तरह पूरे इलाके से हथियार खत्म हो जायेंगे? क्या हम उन दोनों बाहुबलियों को जो खुद तो हथियार रखते हैं और दूसरों पर रोक लगाने की बात करते हैं, शान्ति का मसीहा मान सकते हैं?

8 अप्रैल को अमरीका और रूस के बीच जो परमाणु अप्रसार सन्धि हुई है वह कुछ ऐसी ही है। अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा और रूसी राष्ट्रपति दमित्री मेदवेदेव ने इस सन्धि के तहत अपने-अपने देशों से परमाणु हथियारों की संख्या में कटौती करने का फैसला लिया है। हालाँकि मेदवेदेव ने उसी वक्त यूरोप में अमरीका की मिसाइल रक्षा कवच की योजना के प्रति एक बार फिर अपना विरोध दर्ज कराया।

इस सन्धि के जरिये अगले सात साल में दोनों देश अपने परमाणु हथियारों की संख्या को 1,550 तक सीमित करेंगे। 30 फीसदी की कटौती करने के बावजूद दुनिया के 95 फीसदी परमाणु हथियार रखने वाले यह दोनों देश दुनिया के निरस्त्रीकरण को लेकर या परमाणु हथियार विहीन दुनिया बनाने का ढकोसला आखिर क्यों कर रहे हैं। क्या इसे हम परमाणु हथियार विहीन दुनिया कहेंगे, जहाँ एक तरफ पूरी दुनिया की 90 फीसदी आबादी के पास कोई भी परमाणु हथियार नहीं होगा और दूसरी तरफ हजारों की संख्या में परमाणु हथियार कुछ देशों के हाथों में सीमित होंगे (मुख्यतः अमरीका-रूस) जो धरती को कई बार खत्म कर सकते हैं। दरअसल यह सन्धि अमरीकी परमाणु नीति के नए रुख का एलान है, जिसके मुताबिक अमरीका ऐसे किसी भी देश के खिलाफ परमाणु हमला नहीं करेगा, जिसके पास परमाणु हथियार नहीं हैं लेकिन उन्होंने यह भी कहा है कि यह ईरान और उत्तरी कोरिया पर लागू नहीं होता है। उन्होंने कहा कि एनपीटी की अवज्ञा करने वाले देशों के खिलाफ अमरीका और सहयोगी देश नरमी नहीं बरतेंगे यानी आगे से कोई भी देश अपनी रक्षा के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न होने की दिशा में कदम नहीं बढ़ा सकता।

आखिर यह नीति किसके लिए है? अमरीका, ईरान और उत्तरी कोरिया को क्यों धमकी दे रहा है? इन दोनों से विश्व को या अमरीका को खतरा है या परमाणु हथियार न बनाने से खुद ईरान और उत्तरी कोरिया को खतरा है? दरअसल आज इस लूट पर टिके समाज में ताकतवर से कमजोर को खतरा है कमजोर से ताकतवर को नहीं। ईरान और उत्तरी कोरिया क्या अमरीका पर हमला करने की बात कभी सपने में भी सोच सकते हैं? लेकिन अमरीका ताकत के नशे में चूर, बेहयाई और बेशर्मी से, खुलेआम इन्हें धमकी देता रहता है। यह गुण्डागर्दी नहीं तो क्या है।

अमरीका और रूस निरस्त्रीकरण का जो दिखावा कर रहे हैं, आखिर इनका असली मकसद क्या हैं? ये आदम-खोर अचानक शाकाहारी होने का ढोंग क्यों करने लगे। अचानक इन्हें विश्व शान्ति की चिन्ता क्यों सताने लगी? इन्हें किसी भी देश या दुनिया की शान्ति की परवाह नहीं हैं। इतिहास के आइने में खासतौर पर अमरीकी शासकों का विद्रूप और घृणित चेहरा साफ दिखाई देता है। जो भी देश आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान के साथ जीना चाहता है या अपने देश में उनको लूट और शोषण की इजाजत नहीं देता वह इनके रास्ते का रोड़ा बन जाता है। वे अपनी सैनिक ताकत और षड्यन्त्र के जरिये उन देशों में तख्ता पलट करवाना, आर्थिक प्रतिबन्ध लगवाकर वहाँ की जनता को रोटी और दवा के बिना मारता हैं और अगर इससे भी बात न बने तो उन गरीब देशों पर हमला करना इनका पुराना धन्धा है। इसका ताजा उदाहरण– इराक और अफगानिस्तान हैं। अपने कूटनीतिक फायदे के लिए पहले तालिबान को पैदा करना और फिर उनसे दुनिया को खतरा का हवाला देकर वहाँ की आम जनता को भेड़-बकरियों की तरह कत्ल करना यही है अमरीकी हमलावरों का असली घिनौना चरित्र। यह वही अमरीका है जिसने दूसरा महायुद्ध खत्म हो जाने के बाद जापान के नागाशाकी और हिरोशिमा शहर पर परमाणु बम गिराकर उन्हें राख की ढेर में तब्दील कर दिया था। दुनिया जानती है कि वियतनाम में अमरीका ने कैसी तबाही मचाई और किस तरह वहाँ की बहादुर जनता ने उसे खदेड़ दिया। आज फिर वह इराक और अफगानिस्तान से दुम दबागर भागने की तैयारी कर रहा हैं।

अपने पास हजारों परमाणु बम रखकर और रूस को अपना साझीदार बनाकर जिसके पास खुद ही हजारों की संख्या में परमाणु हथियार हैं वह दावा करता है कि अब पूरा विश्व परमाणु बम विहीन हो जायेगा। गरीब देशों को धमकाने उन पर रोब जमाने का यह अच्छा तरीका है। दुनिया को कई-कई बार तबाह करने वाले एटमी बम ये अपने पास रखेंगे और दूसरों के लिए अपनी रक्षा या

शान्तिपूर्ण इस्तेमाल के लिए भी परमाणु परीक्षण करना गुनाह समझा जायेगा। जो देश अमरीका के सहयोगी और पिट्ठू हैं तथा गरीब देशों और खुद अपने ही देश की जनता को लूटने में इनके साझीदार हैं। वे उनकी निगाह में शरीफ़ हैं। उन्हें अपने साथ मिलाकर अमरीकी आज ईरान और उत्तरी कोरिया को घेरने, उन पर प्रतिबन्ध लगाने और हमला करने की तैयारी कर रहे हैं।

रूस ने कहा है कि अगर उसे अमरीका मिसाइल रक्षा योजना से खतरे का आभास हुआ तो वह इस नई सन्धि से बाहर निकल सकता है। यानी सौ-सौ चूहे खाकर हज को जाने वाले इन ढोंगियों के बीच का नापाक गठबन्धन कितना टिकाऊ हैं इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है।

क्या आज तक किसी भी परमाणु सम्पन्न देश ने दूसरे परमाणु सम्पन्न देश पर हमला किया है अगर नहीं तो क्यों? क्योंकि वे जानते हैं कि खुद भी तबाह और बरबाद हो जायेंगे। हमेशा हमला कमजोर पर ही होता है और खतरा भी उन्हीं को है। इसलिए ये महारथी नहीं चाहते कि इन्हें रोकने के लिए कोई भी परमाणु ताकत संसार के पटल पर उभरे जो इनके लिए बाधा बने और अगर नाभिकीय शक्ति बनती है तो वह इनके दिये निर्देशों का पालन करे या यूँ कहें कि इनकी चमचागिरी करे तो इन्हें कोई परेशानी नहीं है। वरना क्यूबा, वेनेजुऐला पर आर्थिक प्रतिबन्ध क्यों? इनके पास तो कोई परमाणु बम नहीं फिर इनसे कैसा खतरा है। दरअसल इन डाकू, लुटेरों को हर उस देश या इन्सान से खतरा है जो इन्सानियत की आम जनता की बात करते हैं जो सही मायने में सुन्दर दुनिया बनाने की बात करते हैं और स्वाभिमान के साथ जीना चाहते हैं। वह सभी इन आदमखोर गुण्डों के दुश्मन है और शर्म की बात यह है कि भारत के शासक भी इन दहशतगर्दों के साथ हैं और उनके सुर में सुर मिलाकर ईरान व उत्तरी कोरिया का विरोध करते हैं।

कहावत है कि लोहा ही लोहे को काटता है। जब से उत्तरी कोरिया परमाणु हथियार बनाने की ओर बढ़ा तभी से अमरीका की हेकड़ी ढीली पड़ी है और उसने डराने-धमकाने का अपना तरीका भी बदला है। मतलब यह कि अमरीकी शासक प्यार-मोहब्बत और अनुनय-विनय की भाषा नहीं समझते। वे युद्ध, बम और भय की भाषा जानते हैं। उत्तरी कोरिया और ईरान उन्हें उनकी ही भाषा में जवाब दे रहे हैं। अगर ये दोनों महाबली परमाणु बम विहीन दुनिया बनाना चाहते हैं और इनमें दम है तो सारा हथियारों का जखीरा प्रशान्त महासागर में फेंक दें फिर वे दूसरे को निरस्त्रीकरण का उपदेश दें।

दुनिया में स्थायी शान्ति स्थापित करना है तो धरती से सारे परमाणु हथियार खत्म होने चाहिए या फिर अपनी सुरक्षा और आत्मसम्मान के लिए रखने की इजाजत होनी चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता तो परमाणु अप्रसार समझौता साम्राज्यवादी धोखाधड़ी और ढकोसलेबाजी के सिवा कुछ नहीं।

❑

जम्हूरियत

❑हूबनाथ

जम्हूरियत बड़ी खूबसूरत शै है
जो मानती है
सोचने की कूवत सब में बराबर होती है
सभी को हक़ है अपनी बात रखने का
अपनी नाराज़गी के इज़हार का
सबको हक़ है बराबरी का
बराबरी हर तरह की
हाक़िम और आवाम एक बराबर
मुफलिस और उमराव एक बराबर
मालिक और गुलाम एक बराबर
अज़लफ़ और अशराफ़ एक बराबर
बावजूद इसके
जम्हूरियत पसन्द है हुक्मरानों को
जम्हूरियत पसन्द है सियासतदानों को
जम्हूरियत पसन्द है तानाशाहों को
जम्हूरियत पसन्द है बादशाहों को
क्योंकि जम्हूरियत में
आवाम अपने मौत के रास्ते खुद चुनती है
किसान अपनी मर्जी से खुदकुशी करता है
अमीर अपनी मर्जी से अमीर होता जाता है
गरीब जानबूझकर जहालत में पड़ा रहता है
लोगों को गाँव छोड़ शहर जाने की आज़ादी है
रोटी छोड़ जहर खाने की आज़ादी है
जानवरों से बदतर जीने की आज़ादी है
इंसाफ सभी के लिए है
जो ख़रीद सकते हैं ख़रीद लेते हैं
नहीं ख़रीद सकते
उन्हें जेल में रोटियाँ और कपड़े मुफ्त मिलते हैं
फिर भी कमबख़्त आवाम
जम्हूरियत को कोसती है
जबकि
जम्हूरियत
बड़ी खूबसूरत शै है

❑

साम्राज्य और रोबोट

□फिदेल कास्त्रो रुज

अभी हाल ही में मैंने अमरीका द्वारा अपनी वायुसेना की असीम श्रेष्ठता को पूरी दुनिया में प्रभुत्व कायम करने का साधन के रूप में थोपने की योजना पर अपने विचार प्रस्तुत किये थे।

मैंने उस योजना का जिक्र किया था जिसके अनुसार 2020 तक उनकी नौसेना के 2500 सैनिक विमानों के समूह में एफ-22 और एफ-35 जैसे लड़ाकू जहाज भी होंगे। उसके आगे के बीस सालों में उनका हर युद्धक विमान रोबोट चालित होगा।

सैनिक बजट हमेशा ही अमरीकी सांसदों के विशाल बहुमत के दम पर तैयार होता है। अमरीका में शायद ही कोई राज्य होगा जहाँ रोजगार का हिस्सा रक्षा उद्योग पर निर्भर न हो। दुनिया के पैमाने पर पिछले 10 वर्षों में सैनिक खर्च दुगना हुआ है जबकि इस दौरान किसी भी संकट का कोई खतरा भी नहीं। आज के समय में इस ग्रह पर यही उद्योग सबसे अधिक फल-फूल रहा है।

सुरक्षा बजट में 2008 तक लगभग 1,50,000 करोड़ डॉलर का निवेश किया गया। अमरीका दुनिया के कुल व्यय का 602 अरब डॉलर खर्च करता है। इसमें युद्ध का खर्च शामिल नहीं है। दूसरी ओर दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या 1 अरब के आँकड़े तक पहुँच चुकी है जो भूखे पेट सोते हैं।

दो दिन पहले ही एक समाचार एजेन्सी ने यह सूचित किया कि अगस्त 2009 के मध्य में अमरीकी सेना ने एक ऐसा हेलीकॉप्टर प्रदर्शित किया जो दूर से संचालित होता है और उसके साथ ऐसे रोबोट भी हैं जो दुश्मन के सुरक्षाकवच को तोड़ने का काम करता है।

रोबोट बेचनेवाली एक कम्पनी ने दावा किया कि यह नयी तकनीक युद्ध को निर्देशित करने के पुराने तौर-तरीकों को पूरी तरह बदल देगी। 2003 में ही यह खबर प्रकाशित हुई थी कि अमरीका के शस्त्रागार में पर्याप्त संख्या में रोबोट हैं। एएफपी के अनुसार, "आज उसके पास 10,000 जमीनी वाहनों के अलावा 7000 हवाई साधन हैं जिनमें हाथ से चलाये जाने वाले छोटे रैवेन से लेकर 35 मीटर में फैले डैनों वाला 13 मीटर लम्बा दैत्याकार ग्लोबल हॉक जासूसी विमान भी है जो काफी ऊँचाई पर लगातार 35 घण्टों तक उड़ने में सक्षम है।" उस खबर में कई अन्य हथियारों की भी सूची थी।

जानलेवा तकनीक पर अमरीका इतनी भारी रकम खर्च कर रहा है, जबकि स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित पाँच करोड़ अमरीकी लोगों के लिए पैसा खर्च करने में उस देश के राष्ट्रपति के पसीने निकल रहे हैं। इस ऊहापोह की स्थिति में नये राष्ट्रपति का कहना है कि उन्हें लगता है कि वे स्वास्थ्य सेवा प्रणाली के करीब हैं, लेकिन इस मुद्दे पर उन्हें काफी तीखी लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

आगे वे यह भी जोड़ते हैं कि मामला बिलकुल साफ है कि हमेशा ही जब स्वास्थ्य सेवा सुधार का फैसला करीब होता है, निहित स्वार्थी तत्त्व अपने सभी हरबा-हथियारों से लैस होकर पूरी ताकत के साथ अमरीकी लोगों को डराने के लिए मैदान में उतर आते हैं। वे प्रचार की मुहिम चलाते हैं और अपने राजनीतिक सहयोगियों का भी इस्तेमाल करते हैं, ताकि स्वास्थ्य सुधार न हो पायें।

सच्चाई यह है कि लॉस एन्जिल्स में, तीसरी दुनिया को स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने वाली एक चलती-फिरती क्लीनिक से निःशुल्क चिकित्सा सेवा पाने के लिए 8000 अमरीकी एक स्टेडियम में जमा हो गये। अखबारों के मुताबिक इसमें से अधिकांश लोग बेरोजगार थे और उनमें से कुछ लोग तो सैकड़ों मील की यात्रा करके वहाँ आये थे।

किसी अश्वेत बस्ती से आयी एक काफी पढ़ी-लिखी महिला ने कहा कि "मुझे इससे क्या लेना-देना कि यह समाजवादी देश द्वारा संचालित है या नहीं? हम दुनिया के एकमात्र ऐसे देश हैं जहाँ दुर्बल वर्ग के अधिकांश लोगों के पास कुछ भी नहीं है।"

एक रिपोर्ट के अनुसार खून की जाँच के लिए 500 डॉलर (24,500 रुपये) और दाँत की छोटी-मोटी बीमारी पर 1000 डॉलर (45,000 रुपये) से भी अधिक का खर्च आता है।

ऐसा समाज दुनिया के सामने भला क्या उम्मीद जगा सकता है? करोड़ों अमरीकी जिनमें ज्यादातर अश्वेत और लातिन अमरीकी मूल के लोग हैं और जिनके लिए दवा-इलाज का कोई इन्तजाम नहीं है, उनके लिए स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने सम्बन्धी एक साधारण कानून के खिलाफ काम करके संसद में पूँजीपतियों की दलाली करने वाले लौबिस्ट भरपूर कमाई कर रहे हैं। अमरीकी नाकेबन्दी का शिकार क्यूबा जैसा देश भी स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने में सक्षम है। और यहाँ तक कि तीसरी दुनिया के दर्जनों देशों के साथ इस क्षेत्र में सहयोग कर रहा है।

अगर पारराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों के रोबोट हमलावर युद्धों में लड़ने वाले साम्राज्यवादी सैनिकों की जगह ले सकते हैं तो

उन्हें अपने रोबोट के लिए बाजार तलाशने से भला कौन रोक पायेगा? एक समय उन्होंने पूरी दुनिया में मोटर गाड़ियों की बाढ़ ला दी, जिसने आज दुबारा इस्तेमाल न होने वाली ऊर्जा का उपभोग करके और यहाँ तक की खाद्यान्न को भी ईंधन में बदल कर एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि मानवता बचेगी या मोटर गाड़ियाँ चलेंगी। ठीक वैसे ही वे पूरी दुनिया को ऐसे रोबोट से भी भर सकते हैं जो लाखों कामगारों को उनके कार्यस्थल से निकाल बाहर कर देंगे।

अच्छा होता यदि वैज्ञानिक ऐसे रोबोट तैयार करते जो राजकाज चलाने में भी सक्षम हों। इस तरीके से वे अमरीकी सरकार और संसद को इस भयावह, अन्तर्विरोधी और उलझन में डालने वाले कामों से छुट्टी दे सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे इस काम को ज्यादा अच्छी तरह और कम खर्च में ही कर लेंगे। ❑

'वैश्विक संकट से व्यवस्था में लोगों का विश्वास उठा'

भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर डी. सुब्बाराव ने, 'नैतिकता और वित्त की दुनिया', सम्मेलन में कहा कि मौजूदा वैश्विक संकट ने वित्तीय व्यवस्था में आस्था को भारी क्षति पहुँचायी है, और अर्थशास्त्र का अध्ययन अपने मूल्यगत आधार खो सकता है। उन्होंने कहा कि " संकट ने भरोसे को काफी तोड़ा है– वित्तीय व्यवस्था में भरोसा, बैंकरों में, व्यवसाय में, अग्रणी व्यवसायियों में, निवेश सलाहकारों, क्रेडिट रेटिंग ऐजेन्सियों, राजनीतिज्ञों, मीडिया और वैश्वीकरण में भरोसे को।"

आन्ध्र प्रदेश के श्री सत्य सांई विश्वविद्यालय में आयोजित इस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि वर्तमान वित्तीय संकट ने वित्तीय दुनिया के नैतिक आधार पर प्रश्न खड़ा किया है। साथ ही उन्होंने कहा कि इस संकट ने बैंकिंग व्यवस्था में नैतिक खतरे के मुद्दे का भण्डा-फोड़ कर दिया। उन्होंने कहा, " कुछ ऐसा जिसे मुनाफे का निजीकरण और दुष्परिणामों का समाजीकरण कहा जाता हैं।" उन्होंने आगे कहा, " इतनी बड़ी संस्थाओं का दिवालिया होना सरकारें नहीं झेल सकती क्योंकि अंततः उन्हें जनता के पैसे से उबारा जाएगा। 'इतना विशालकाय कि असफल नहीं हो सकता' की मानसिक व्याधि ने वित्तीय संस्थाओं को इतने बड़े जोखिम उठाने लायक बना दिया जितना एक साबुन बनाने वाला उद्योपति नहीं उठा सकता था।"

उन्होंने कहा कि संकट ने एक आत्ममंथन वाली बहस की शुरुआत कर दी है कि वित्तीय क्षेत्र की बीमारी कहीं अकादमिक विद्वानों द्वारा अपनाये गये अर्थशास्त्र की दिशा में दोष का परिणाम तो नहीं। उन्होंने आगे कहा, –"एक अकादमिक व्यक्ति होने के नाते, मैंने अर्थशास्त्र का मुद्दा उठाया है, जो अपना मूलाधार खोता जा रहा है और अनुमान लगाया कि इसकी जड़े शायद वित्तीय क्षेत्र की बीमारियों में निहित है।"

सुब्बाराव ने कहा कि गुजरी शताब्दियों में अर्थशास्त्र के नीतिगत सारतत्त्व का ह्रास हो गया है क्योंकि अब अर्थशास्त्र एक मूल्य आधारित सामाजिक विज्ञान से मूल्य रहित विशु) विज्ञान में बदल रहा हैं। उन्होंने कहा, " गणितज्ञ अमूर्तता को काफी दूर तक खींच दिया गया और इस प्रक्रिया में अर्थशास्त्र का जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से नाता टूट गया, जिसके अधययन और विश्लेषण की उससे उम्मीद की जाती थी।"

(28 अगस्त 2009 इंडियन एक्सप्रेस से साभार)

राजधानी में विदेशी परमाणु कचरे का कहर

जिस समय भारत सहित दुनिया के लगभग 40 देशों के शासक अमरीका में बैठकर परमाणु हथियारों की आतंकवादियों से सुरक्षा करने के उपाय पर विचार कर रहे थे उसी समय राजधानी दिल्ली में विदेशों से आयातित परमाणु कचरे से होने वाले विकिरण का आतंक छाया हुआ था।

दिल्ली के मायापुरी इलाके में कोबाल्ट-60 से हुए विकिरण की घटना से पूरी दिल्ली में दहशत फैल गयी। विकिरण के शिकार हुए राजेन्द्र और दीपक जैन की हालत नाजुक बनी हुई है, जबकि पाँच अन्य लोगों की हालत भी अच्छी नहीं है। इस विकिरण की चपेट में आकर अभी और कितने लोग धीमी मौत के शिकार होंगे, यह अनुमान लगाना कठिन है।

आश्चर्य यह कि कोबाल्ट-60 खुले बाजार में नहीं बिकता। किसी भी सरकारी या निजी अस्पताल में कैंसर रोगियों के लिए इसका इस्तेमाल करने के लिए भी भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र (बार्क) ही अनुमति और आपूर्ति करता है। कोबाल्ट-60 का इस्तेमाल सिर्फ कैंसर का इलाज करने (कीमोथैरापी) और खाद्य पदार्थों को कीटाणु मुक्त करने में ही होता है। अगर मशीन खराब हो जाये तो उसे नष्ट कर दिया जाता है और ऐसी स्थिति में कोबाल्ट-60 बार्क को वापस लौटाना होता है।

जब इस धातु का इस्तेमाल इतने नियमों और नियन्त्रण के अधीन होता है तो मायापुरी के कबाड़ी (स्क्रैप) मार्केट में यह कैसे पहुँच गया। अनुमानतः विदेशी कूड़े-कबाड़ के साथ-साथ यह जहरीली धातु आयी थी।

कोबाल्ट-60 के विकिरण की चपेट में आए लोगों की अगली पीढ़ियों को भी इसका दुष्प्रभाव झेलना पड़ सकता है। इसमें पेट की बीमारियाँ, त्वचा विकार, हीमोफीलिया, दिमागी लकवा, दमा, अस्थमा, फेफड़े में फंगस जैसी बीमारियाँ लग सकती हैं। हमारे देश में यह कोई पहली दुर्घटना नहीं है। आखिर मानव जीवन के प्रति यह आपराधिक लापरवाही हमारे ही देश में क्यों? कर्नाटक स्थित कैगा परमाणु बिजली संयन्त्र मामले को अभी छः महीने भी नहीं हुआ है। जब रेडियोधर्मी किरणों की चपेट में आ जाने से वहाँ 55 लोग बीमार हो गये थे। इन खतरों के प्रति सरकार बिलकुल सचेत नहीं है।

हमारा देश आज धनी देशों से आने वाले खतरनाक कूड़ा-कबाड़ फेंकने का ठिकाना बना हुआ है। पचास साल पहले पी एल-480 गेहूँ के साथ खेतों की उर्वरा शक्ति को नष्ट करने वाली गाजर घास आयी थी। कुछ साल पहले यहाँ हालैण्ड से गोबर लाया गया था। अब अमरीका अपने ई-कबाड़ का 80 फीसदी कचरा भारत, चीन और पाकिस्तान में डलवाता है। टॉक्सिक वॉच संस्था के अनुसार कुछ दिन पहले अमरीका से एक जहाज यहाँ ठिकाने लगाने के लिए लाया जा रहा था जिससे रेडियोधर्मी पदार्थों के संक्रमण का खतरा था। इससे पहले भी फ्राँस के ब्लू लेडी जहाज को लेकर काफी हो-हल्ला हुआ। इस जहाज में खतरनाक रेडियोधर्मी संक्रमण पदार्थ होने के चलते बांग्लादेश ने अपनी सीमा तक में नहीं घुसने दिया था। लेकिन भारत में इसे तोड़ने की इजाजत मिल गयी। क्या हमारा देश बांग्लादेश से भी गया गुजरा है। इस जहाज में 1100 स्थानों पर घातक रेडियोधर्मी पदार्थ (एकरीसियम-241) मौजूद था। जिसके सम्पर्क में आने से कैंसर जैसी जानलेवा बीमारी होती है। कुल मिलाकर इस जहाज में 1700 टन खतरनाक पदार्थ था। समुद्र के पानी को इसने छः किलोमीटर तक जहरीला बना दिया जिसके चलते वहाँ की सभी मछलियाँ मर गयीं। अलंग (गुजरात) बन्दरगाह में काम करने वाले 30 हजार लोगों की जिन्दगी नर्क में बदल गयी। कुछ साल पहले भी खतरनाक रेडियोधर्मी संक्रामक पदार्थ से भरे सिल्की नामक जहाज को भारत में तोड़ने की इजाजत दी गयी थी। इन खतरनाक संक्रामक पदार्थों के प्रभाव से हमारे मजदूर भाई आये दिन मरते हैं। क्योंकि इनके लिए वहाँ सुरक्षा की उचित व्यवस्था नहीं है। यहाँ कोई श्रम कानून या सुरक्षा नियम लागू नहीं होता है। अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार संघ की रिपोर्ट के अनुसार अलंग बन्दरगाह पर 1997 से 2002 के बीच 132 मौतें तथा 173 दुर्घटनाएँ हुई हैं। 2003 में एक विस्फोट से 12 श्रमिकों की जान चली गयी थी।

एक तरफ ये विकसित देश परमाणुविहिन दुनिया बनाने की बात करते हैं और दूसरी तरफ भारत सहित तीसरी दुनिया के गरीब देशों में अपने परमाणु कचरे का ढेर लगाकर लोगों की जिन्दगी को नर्क से भी बदतर बना रहे हैं।

जिस कचरे पर पूरे यूरोप और अमरीका में प्रतिबन्ध है उसे हमारे देश में लाकर फेंक दिया जाता है। क्या हमारे लोगों की जान की कोई कीमत नहीं? उनके लिए अलग और हमारे लिए अलग नियम और कानून हैं? क्यों इन खतरनाक कबाड़ों को चैन्नई पोर्ट, विशाखापट्टनम, कांडला और अलंग बन्दरगाहों से होकर बिना

जाँच-पड़ताल के बेरोकटोक ढंग से दिल्ली तक कैसे लाया गया? भारी मात्रा में रेडियोधर्मी पदार्थों से संक्रमित कबाड़ आज भी लाये जा रहे हैं। उन देशों के प्रतिबन्धित कीटनाशक हमारे देश में खुलेआम बेचे जा रहे हैं। उनके खर-पतवारों और कीट-पतंगों का हम गेहूँ और फलों के साथ अपने देश में आयात करते हैं। उनके सड़े-गले जहाज हमारे देश में लाकर तोड़े जा रहे हैं। अकेले यूरोपीय देशों से 2 करोड़ 30 लाख अमरीकी डॉलर तक की कीमत के कबाड़ का निर्यात भारत में किया जाता है। इस सिलसिले का कोई अन्त नहीं। आखिर इस जहरीले कबाड़ को यहाँ लाने की हमारी क्या मजबूरी है। जिसके चलते इतने निर्दोषों की जानें जा रही हैं। हमारे रहनुमा विदेशी मुद्रा के लोभ में देशवासियों की जान का सौदा करते रहें और हम चुपचाप देखते रहें? आखिर कब तक?

मरते बच्चे, बढ़ते अरबपति

हमारा देश आज विश्व में बच्चों का सबसे बड़ा कत्लगाह हो गया है। पाँच वर्ष से कम उम्र में लगभग 20 लाख बच्चे प्रत्येक वर्ष काल के गाल में समा जाते हैं। इनमें से 10 लाख तो अपने जीवन का एक माह भी पूरा नहीं कर पाते। प्रत्येक वर्ष मरने वाले 20 लाख बच्चों में से 10 लाख से अधिक मौतें कुपोषण तथा भूख के चलते होती है। भारत के सबसे समृद्ध राज्य महाराष्ट्र में, जहाँ भारत की वाणिज्यिक राजधानी मुम्बई स्थित है और जहाँ अधिकांश भारतीय अरबपति रहते हैं, हर साल कुपोषण तथा भूख से 45,000 बच्चों की मौत होती है।

> .. बच्चे बहुत दिनों तक जीवित रह सकते हैं
> अगर आप उन्हें मारना बंद कर दें
> चिड़िया बहुत दिनों तक जीवित रह सकती हैं
> अगर आप उन्हें मारना बंद कर दें
> भूख से, महामारी से, बाढ़ से, गोलियों से,
> उन्हें मारते हैं आप
> बच्चों को मारने वाले आप लोगों को
> एक दिन पूरी दुनिया से बाहर कर दिया जायेगा।
> बच्चों को मारने वाले शासकों सावधान
> एक दिन आपको बर्फ में फेंक दिया जायेगा
> जहाँ आप गलते हुए मरेंगे
> और आपके साथ आपकी बंदूकें भी गल जायेंगी
> --आलोक धनवा की कविता 'पतंग' का अंश।

जहाँ विकास दर के मामले में विश्व में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है वहीं बच्चों की मौत कुपोषण, बीमारी तथा विकृत विकास के मामले में यह विश्व में पहले स्थान पर है। विकासशील देशों में लगभग 19 करोड़ 50 लाख बच्चों का कद अपने उम्र के हिसाब से कम है। इनमें 6 करोड़ 10 लाख बच्चे भारत के हैं। विकासशील देशों के 7 करोड़ 10 लाख बच्चों का वजन अपने कद के हिसाब से कम है। इनमें 2 करोड़ 50 लाख बच्चे भारत के हैं। विकासशील देशों में 12 करोड़ 90 लाख बच्चों का वजन उम्र के हिसाब से कम है। इनमें से लगभग 5 करोड़ 40 लाख बच्चे भारत के हैं।

2005-06 में भारत के 43 प्रतिशत बच्चों का वजन कम था, 48 प्रतिशत अल्प विकास के शिकार थे, जबकि चीन में जिससे अक्सर हमारे शासक अपनी तुलना करते रहते हैं तथा जिसकी जनसंख्या भी हमसे अधिक है, केवल 7 प्रतिशत बच्चों का वजन अपनी उम्र के हिसाब से कम है और सिर्फ 11प्रतिशत बच्चे अल्प विकास के शिकार हैं। बच्चों के कुपोषण के मामले में हमारे देश की स्थिति अफ्रीकी देशों से भी बदतर है। जो तथाकथित उच्च विकास दर में भारत के सामने कहीं नहीं खड़े हैं। वहाँ पाँच वर्ष से कम उम्र के केवल 21 प्रतिशत बच्चों का वजन कम है तथा 36 प्रतिशत अल्प विकास के शिकार हैं।

संयुक्त राष्ट्र बाल कोष के अनुमान इस बात की पुष्टि करते हैं कि विश्व में अल्पविकसित, कमजोर तथा कम वजन के बच्चों की संख्या सर्वाधिक भारत में है। विकासशील देशों के अल्प विकसित बच्चों तथा कम वजन के बच्चों का क्रमशः 31 प्रतिशत और 42 प्रतिशत भारत के बच्चे हैं।

भारत के सामाजिक जीवन में उपस्थित ऊँच-नीच की स्थिति बच्चों के कुपोषण में भी सामने आती है। अनुसूचित जन जातियों में सर्वाधिक 55 प्रतिशत बच्चे कम वजन के अर्थात कुपोषित हैं। उसके बाद अनुसूचित जातियों का स्थान आता है। जिनमें 48 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं अन्य पिछड़े वर्गों के 43 प्रतिशत तथा सामान्य वर्गों के 34 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं।

कुपोषण के मामले में शहरी तथा ग्रामीण समाज के बीच भी अन्तर दिखाई देता है। शहरी क्षेत्र के 36 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्रों के 48 प्रतिशत।

कुपोषण में लिंग के आधार पर भी अन्तर दिखाई देता है। जहाँ लड़कों में 42 प्रतिशत कुपोषित है वहीं लड़कियों में कुपोषण 43 प्रतिशत है। जबकि लड़कियों की कुल संख्या लड़कों से काफी कम है।

कुपोषण न केवल बच्चों की अकाल मौत का सबसे बड़ा कारण है बल्कि इसके चलते बच्चों को मलेरिया, खसरा, डायरिया, न्यूमोनिया, एचआईवी और एड्स जैसी बीमारियों की सम्भावना सर्वाधिक होती है। गम्भीर कुपोषण के शिकार बच्चों के मरने की सम्भावना स्वस्थ बच्चों की तुलना में 9 गुना अधिक रहती है।

उम्र के प्रारम्भिक वर्षों में उचित पोषण मस्तिष्क के विकास का आधार होता है। जिन बच्चों को पर्याप्त सन्तुलित पोषण नहीं प्राप्त होता, वे जिन्दगी की दौड़ में पीछे छूट जाते हैं। कुपोषण से उनकी बौद्धिक क्षमता बुरी तरह प्रभावित होती है और बड़े होने पर असाध्य बीमारियों के चपेट में आने की सम्भावना अधिक रहती है।

किसी भी समाज की बेहतरी का पैमाना वहाँ के बच्चों की स्थिति होती है। आखिर हमारे शासक वर्ग अपने देश के बच्चों के प्रति इतने क्रूर और असंवेदनशील क्यों है? प्रति वर्ष 20 लाख बच्चों की मौत भी उनके मन-मस्तिष्क में कोई कँपकँपी क्यों नहीं पैदा कर पाती है? इसका सीधा जबाव यह है कि भुखमरी, कुपोषण और मौत के शिकार बच्चे उनके वर्ग के बच्चे नहीं हैं। ये बच्चे भारत की बहुसंख्य मेहनतकश जनता के बच्चे हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ता रहे, मुट्ठीभर अमीरजादों की विलासिता तथा एय्याशी कायम रहे, इसके लिए ही हमारे शासक कार्य करते हैं। और इसमें वे काफी सफल हैं। एक वर्ष के अन्दर ही अरबपतियों की संख्या 24 से बढ़कर 50 हो गई है। आखिर वे यही तो चाहते हैं। बच्चे भले ही कुपोषण से मरते रहें, अमीरों की खुशहाली और तरक्की में कोई कमी न होने पाये।

दंगे का निर्देशक

गुजरात नरसंहार के दोषी नरेन्द्र मोदी को अन्ततः विशेष जाँच दल के सामने पूछताछ के लिए हाजिर होना ही पड़ा। देश में यह पहली घटना है जब किसी मुख्यमंत्री को आपराधिक कृत्य में शामिल होने के आरोप में पुलिस ने तलब किया है।

28 फरवरी 2002 को अहमदाबाद की गुलमर्ग सोसायटी कालोनी में दंगाइयों ने 68 लोगों की नृशंस हत्या कर दी थी। मरने वालों में काँग्रेस के पूर्व सांसद एहसान जाफरी भी थे। उनकी विधवा जाकिया जाफरी की याचिका पर सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर गुजरात नरसंहार के 8 साल बाद पहली बार विशेष जाँच दल ने मोदी से पूछ-ताछ की। जाकिया जाफरी ने मोदी के साथ-साथ अन्य 62 षड़यन्त्रकारियों पर भी हत्या का आरोप लगाया था। 28 फरवरी की घटना का वर्णन करते हुए वे जो विधान प्रस्तुत करती हैं वह अत्यन्त लोमहर्षक है। "हम लोगों को बचाने की कोशिश में मेरे पति मारे गये। उन्होंने देखा कि महिलाओं के साथ बलात्कार किया जा रहा था, लोगों के अंग-भंग किये जा रहे थे। भीड़ लोगों पर निर्मम हमला कर रही थी। खून की धारा बह रही थी मेरे पति जानते थे कि वे हमें बचा सकते हैं। वे भीड़ के सामने गये और उन्हें पैसों का लालच भी दिया। लेकिन उन्मादी भीड़ ने उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें जला दिया।"

27 मार्च 2010 को जब मोदी विशेष जाँच दल के कार्यालय में जवाब-तलब के लिए जा रहे थे तो टीवी पर जाकिया जाफरी यह देखकर हैरान थी कि जाँच-पड़ताल के लिए जाते हुए भी मोदी कई सुरक्षा कर्मियों और ब्लैक कैट कमाण्डो के घेरे में था। एक साक्षात्कार में जाकिया जाफरी ने बताया कि हत्या वाले दिन उनके पति ने मोदी समेत कई नेताओं, अधिकारियों और पुलिस कर्मियों को फोन करके उनसे मदद की गुहार लगायी थी, लेकिन कोई उन्हें बचाने नहीं आया।

जाकिया जाफरी ने गुजरात सरकार पर यह आरोप लगाया कि गवाहों को डराया-धमकाया जाता है और दंगे के मामले में जो सरकारी वकील नियुक्त किया गया था उसका सम्बन्ध विश्व हिन्दू परिषद से था।

किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के ऊपर यह एक गम्भीर प्रश्न है कि हजारों लोगों के कत्ल के लिए जिम्मेदार आदमी किसी राज्य का मुख्यमंत्री हो। नौ घण्टों की पूछताछ के बाद अभी तक उस पर कोई एफआईआर भी दर्ज नहीं की गयी है। आगे भी कोई कार्रवाई होगी यह कहना मुश्किल है। हमारे लोकतंत्र की यह विशेषता है कि यहाँ किसी भी बड़े आदमी को सजा नहीं होती। नरेन्द्र मोदी भी इसके अपवाद नहीं। जाकिया जाफरी और उसके सहयोगियों के लिये यह भी बड़ी बात है कि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर मोदी को पूछताछ के लिए पुलिस के सामने लाया गया।

आजकल भाजपा इस बात से बहुत परेशान है कि जर्मनी के एक राजनयिक ने मोदी को "तानाशाह" कह दिया। जर्मनी हिटलर की तानाशाही और फासीवाद का भुक्तभोगी रहा है। इसलिए वहाँ के लोग जानते हैं कि तानाशाह की परिभाषा क्या होती है।

क्लीनिकल परीक्षण का खूनी खेल जारी है

क्लीनिकल परिक्षण के नाम पर, आम जनता की जान से खिलवाड़ करने वाली देशी-विदेशी कम्पनियों के कुकर्मों के बारे में हम 'देश-विदेश' के अंक-1 से अपने पाठकों को अवगत कराते रहे हैं। पत्रिका के अंक पाँच और आठ में भी इस दरिन्दगी का वृतान्त दिया गया था। तमाम विरोधों के बावजूद यह खेल आज भी बदस्तूर जारी है।

अनैतिकता और अमानवीयता की सारी सीमाओं को लाँघते हुए और नियम-कानून की धज्जियाँ उड़ाते हुए क्लीनिकल परिक्षण ने हाल ही में चार आदिवासी लड़कियों की जान ले ली। घटना आन्ध्र प्रदेश के खम्मम जिले की है। 120 लड़कियाँ दवा के दुष्परिणामों का शिकार हुई हैं।

यह क्लीनिकल परिक्षण बच्चेदानी के मुख के कैंसर, योनि तथा योनिमुख के कैंसर के लिए जिम्मेदार 'ह्यूमन पैपिलोमा वायरस' (एचपीवी) की रोकथाम के लिए तैयार की गयी 'गारडासिल' नामक वैक्सीन की मात्रा निर्धारित करने के लिए किया गया था।

इस परिक्षण को 'पाथ इण्टरनेशल' नामक अमरीकी एनजीओ द्वारा अमरीकी दवा निर्माता कम्पनी 'मर्फ' के लिए कराया जा रहा था। यह एनजीओ दुनिया के सबसे अमीर आदमी बिल गेट्स और उनकी पत्नी मेलिन्डा गेट्स के पैसों से संचालित होता है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद (आईसीएमआर) ने इस परिक्षण का अनुमोदन किया था।

इस बार भी यह परिक्षण कायदे-कानूनों को ताक पर रख कर किया गया। दवा कम्पनी बच्चेदानी के मुख के कैंसर से रोकथाम का दावा कर रही है, जबकि यह वैक्सीन कैंसर के लिए जिम्मेदार सौ में से केवल दो वायरस की प्रजातियों पर ही असर करता है। परिक्षण के लिए दस से चौदह वर्ष की चौदह हजार लड़कियों और उनके परिजनों को झूठ बोलकर परिक्षण के लिए तैयार किया गया। उनसे कहा गया कि यह दवा जीवन भर कैंसर से बचाव करेगी, इसके कोई दुष्परिणाम नहीं हैं और उसका गर्भ-धारण की क्षमता पर कोई दुष्परिणाम नहीं पड़ेगा। जिन लोगों पर किसी नयी दवा का परिक्षण करना हो उन लोगों को उस दवा के सम्भावित दुष्परिणाम और खतरे से अवगत कराकर उनसे लिखित अनुमति लेना जरूरी होता है। हमारे देश का कानून साफ तौर पर कहता है कि पहले वयस्कों पर सफल परिक्षण हो जाने के बाद बच्चों पर किसी दवा का परिक्षण किया जा सकता है। नियम यह भी कहता है कि परीक्षण उन लोगों पर नहीं किया जा सकता जिनमें सम्बन्धित बीमारी होने की सम्भावना अधिक हो। इस मामले में परीक्षण गरीब, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदाय की लड़कियों पर किया गया जो बच्चेदानी के मुख के कैंसर के लिए अधिक संवेदनशील होती हैं। छत्तीसगढ़ से विस्थापित आदिवासी परिवारों के बच्चे दवा कम्पनी के लिए आसान शिकार बने जिन्हें तेलगु भाषा समझ में नहीं आती। टीकाकरण कार्ड पर राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) का प्रतीक चिन्ह (लोगो) मिलने से शक का दायरा और बढ़ जाता है। गरीब लोगों को यह कहकर भी बरगलाया गया कि अभी यह दवा मुफ्त में मिल रही है, लेकिन जब कम्पनी बाजार में दवा बेचने लगेगी तो यह इतनी मँहगी होगी कि आप इसे खरीद नहीं पायेंगे।

इस कुकर्म में आईसीएमआर जैसे प्रतिष्ठित सरकारी संस्थान का तकनीकी सहयोग देना, आन्ध्र प्रदेश और गुजरात सरकार की मन्जूरी और ड्रग कन्ट्रोल ऑफ इन्डिया द्वारा परिक्षण के दौरान ही चार जान ले लेने वाली दवा को खुले बाजार में बेचने की मन्जूरी देना, विदेशी दवा कम्पनियों के साथ सरकारी मिली भगत को उजागर करता है। साथ ही जनता की भलाई के नाम पर अपना धन्धा चमकाने वाले बिल गेट्स जैसे अमरीकी धनाढ्यों के प्रति हमारे रहनुमाओं की दास वृत्ति और आत्मसमर्पण को भी दर्शाता है।

आज जनता जानना चाहती है कि क्लीनिकल परिक्षण यदि वास्तव में जरूरी है तो ये परिक्षण पहले से ही बदहाल, बीमार और कमजोर, गरीब लोगों पर ही क्यों? देश को चलाने वाले नौकरशाहों, नेताओं और मंत्रियों के बच्चों पर क्यों नहीं? शहरी अभिजात्यों और पूँजीपतियों के बच्चों पर क्यों नहीं?

क्लीनिकल परीक्षण के नाम पर विदेशी दवा कम्पनियों को भारतीय जनता के साथ चूहे और खरगोश जैसा व्यवहार करने की इजाजत देने और इस देश को प्राण घातक प्रयोगों के काम आने वाले पशुओं का फार्म समझने का यह शर्मनाक और खूनी खेल आखिर कब तक?

ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य से खिलवाड़

गाँव के डॉक्टरों के लिए अलग स्नातक कोर्स बीआरएमएस

गाँवों और शहरों के बीच असमान विकास और आवश्यक सेवाओं की गहरी खाई पाटना शोषक-शासक वर्ग का मकसद कभी नहीं रहा है। अब तो अधिकांश सरकारी फैसले गाँव के प्रति सौतेले व्यवहार का स्पष्ट इजहार करते हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) के तहत गठित टॉस्क फोर्स ने ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य की बद से बदतर होती स्थिति पर चिन्ता जाहिर की थी और स्थिति में सुधार के लिए कुछ सुझाव भी दिए थे। जिनमें से एक था, चीन के मॉडल पर आधारित चिकित्सा सेवा कर्मियों की 'मध्यम स्तरीय' काडर फोर्स तैयार करना। इसके लिए तीन साल का बीएससी (स्वास्थ्य विज्ञान) का एक कोर्स तैयार करके जन स्वास्थ्य कर्मी (कम्युनिटी हेल्थ प्रेक्टिशनर) तैयार करने की बात कही गयी थी। इसके लिए पंजीकृत चिकित्सा कर्मी (आरएमपी) तथा अन्य सरकारी स्वास्थ्य कर्मी जैसे- नर्स और दाई (एएनएम), पुरुष स्वास्थ्य सेवक (एमएचडब्ल्यू) और महिला स्वास्थ्य सेवक (एफएचडब्ल्यू), जो ग्रामीण क्षेत्र में पाँच साल से अधिक कार्यरत हैं, उन्हें नये कोर्स करने के लिए प्रेरित करने का भी सुझाव था। इन स्वास्थ्य कर्मियों को प्राथमिक स्तर पर उन अतिसामान्य बीमारियों का इलाज करने के लिए तैयार किया जाना था जिनके लिए विशेष जाँच की आवश्यकता नहीं होती, जिन्हें लक्षणों से ही पहचाना जा सकता है और जिनका इलाज भी आसान होता है और जिनके लिए मरीज को अस्पताल में भर्ती करने की आवश्यकता नहीं होती है। उदाहरण के लिए सर्दी, बुखार या साधारण उल्टी-दस्त। इन स्वास्थ्य कर्मियों को इस बात के लिए तैयार किया जाना था कि वे साधारण रोगों का इलाज करने के साथ-साथ जटिल रोगियों को पहचान कर तुरन्त निकटतम प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र या विशेषज्ञ के पास जाने का सुझाव दें।

2007 से लेकर अब तक टास्क फोर्स के सुझावों पर कोई अमल नहीं किया गया, बल्कि स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा ग्रामीण स्वास्थ्य को दर किनार करके बीआरएमएस (बैचलर ऑफ रूरल मेडिसिन एण्ड सर्जरी) नामक नयी डीग्री वाले डाक्टरों की खेप तैयार करने का सगूफा छोड़ दिया। कहा जा रहा है कि यह डिग्री चार साल के कोर्स के बाद प्रदान की जाएगी जिसमें छह माह की ट्रेनिंग (इन्टर्नशिप) भी शामिल होगी।

टॉस्क फोर्स के सुझावों को दरकिनार करके बीआरएमएस योजना को अमल में लाने की बात से सरकार की नीयत पर कई तरह के सवाल खड़े होते हैं–

(1) प्राथमिक स्तर पर स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने में देरी करके सरकार अपनी जिम्मेदारी से मुँह मोड़ रही है।

(2) स्वास्थ्य सेवा के जिस स्तर पर एमबीबीएस डिग्री धारक डाक्टरों को नियुक्त किया जाना चाहिए वहाँ कम खर्च से तैयार, कम तनख्वाह पर काम करने को राजी और कम शिक्षित डाक्टरों के हाथों में ग्रामवासियों के स्वास्थ्य की बागडोर थमना एक साजिश है।

दरअसल समस्या गहरी है। पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया में ग्रामीण और शहरी विकास में भारी अन्तर होना लाज़िमी है। ऐसी व्यवस्था में शहर रोज-ब-रोज विकसित होते रहते हैं, क्योंकि शहरों में ही देश के नीति-निर्माता, बड़े पूँजीपति, बड़े नेता, नौकरशाह और राज-काज चलाने वाले लोग रहते हैं। सरकार सबसे अधिक संसाधन खास लोगों की सुख-सुविधा में झोंकती है। लेकिन जब गाँवों के विकास की बात आती है तो वह संसाधन की कमी और गरीब देश होने की मजबूरी का रोना रोती है।

हमें सरकार से पूछना चाहिए कि यदि देश में सचमुच साधनों की कमी है तो उसका बराबर-बराबर बँटवारा क्यों नहीं होता? बिजली की कमी है तो शहरों और फैक्ट्रियों में चौबीस घण्टे बिजली क्यों? गाँवों की तरह शहरों में भी दो या चार घण्टे बिजली आपूर्ति क्यों नहीं? यदि स्वास्थ्य सेवाओं के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है तो पूरे देश में, शहरी और गाँवों में, आबादी के हिसाब से पर्याप्त अस्पताल क्यों नहीं? शहर के अस्पतालों में गाँव के स्वास्थ्य केन्द्र से अधिक दवा और अच्छे डॉक्टर क्यों? क्या गाँवों में रहने वाले लोग इस देश के नागरिक नहीं हैं?

पूँजीवादी सरकार न तो इस गैरबराबरी को खत्म करेगी न ही यह उसकी चिन्ता का विषय है। इन सवालों का जवाब जनता को ही ढूंढना होगा।

भारत-अमरीका कृषि समझौता

भारतीय खेती अमरीकी पूँजी के अधीन

हमारे देश में किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला अभी भी जारी है। सरकार ने किसानों की समस्याओं का कोई कारगर समाधान तो नहीं किया, उल्टे उसने अमरीका और उसकी दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए देश के कृषि-क्षेत्र को लूटने का रास्ता जरूर साफ कर दिया। सरकार ने 18 फरवरी को अमरीका के साथ गुप-चुप तरीके से एक समझौता किया है। इस समझौते का मुख्य उद्देश्य कृषि क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निवेश को बढ़ावा देना और इसमें अमरीकी कृषि व्यापार के अनुकूल बदलाव लाना है। इस समझौते को "कृषि सहयोग और खाद्य-सुरक्षा पर अमरीका के साथ समझौता ज्ञापन" नाम दिया गया है, और संभावना है कि यह जल्दी ही लागू भी हो जायेगा।

2006 में हुए नाभिकीय समझौते के दौरान सरकार ने परदे के पीछे अमरीका के साथ कई समझौते किये थे। नाभिकीय समझौते के शोरगुल के कारण जनता को उसकी हवा भी नहीं लग पायी थी। उस समय " भारत-अमरीका ज्ञान पहल" नाम से जो कृषि समझौता किया गया था उसी के विस्तार के रूप में ही यह नया समझौता किया गया है।

2006 में हुए समझौते के कार्यकारी मण्डल में भारत के कृषि विशेषज्ञों के लिए और यहाँ तक कि किसी संसद सदस्य के लिये भी कोई जगह नहीं थीं, जबकि वालमार्ट, मोन्सेन्टों व आर्चर डेनियल जैसी बदनाम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रतिनिधि उसमें शामिल थे। इस समझौते में अमरीका और उसकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को छूट दी गयी थी कि वे भारत के विविधता पूर्ण, समृद्ध और बहुमूल्य जीन भण्डारों का मुफ्त में इस्तेमाल करके शोध कार्य और जैव प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित नयी प्रजातियों का विकास कर सकते हैं, जिनके पेटेन्ट अधिकार और अन्य नियंत्रण भी उन्हीं के पास सुरक्षित रहेंगे। इसी के साथ उन्हें अधिकार दिया गया था कि वे भारतीय कृषि विश्वविद्यालयों, प्रयोगशालाओं और कृषि विज्ञान केन्द्रों के लिये कार्यक्रम बना सकते हैं और अपने कृषि-व्यापार को बढ़ाने में इनका इस्तेमाल कर सकते हैं। इस समझौते की अन्य शर्तों से यह संकेत मिलता है कि जल्द ही भारत सरकार अपना पूरा कृषि-क्षेत्र इन कम्पनियों के लिए खोल देगी।

इस नये समझौते के बारे में सरकार कहती है कि इस समझौते से देश की जनता को भरपूर खाद्यान्न उपलब्ध होगा और जनता की पोषण सम्बन्धी समस्याएँ हल होंगी। जनता को अनाज उपलब्ध न होने के लिए सरकार की उपेक्षा और बदइन्तजामी जिम्मेदार है। कौन नहीं जानता कि हर साल देश का लाखों टन अनाज चूहे खा जाते हैं या खुले-आकाश के नीचे सड़ जाता है। जबकि लोग भूख से मरते हैं। एक ओर किसान ज्यादा फसल पैदा होने और उचित कीमत न मिलने के चलते आत्महत्या करने को मजबूर होते हैं, तो दूसरी ओर जनता उन जरूरी चीजों के लिए तरसती है। समस्या जितनी खाद्यान्न की उपलब्धता की नहीं उससे अधिक उसके समुचित वितरण की है। साथ ही अगर खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना हैं तो सरकार को चाहिए कि इसके लिए किसानों को प्रोत्साहित करे, जबकि सरकार और कृषि व्यवसायी अनाजों के उत्पादन के बजाए, फूल, जेट्रोफा, सफेद मूसली जैसी चीजों के उत्पादन को बढ़ावा दे रही है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की चिन्ता हमारे देश की जनता का पेट भरना है या अपनी तिजोरी भरना?

देश के लोगों के पोषण के प्रति चिन्तित होने का स्वांग कर रहे शासक क्या यह नहीं जानते कि पोषण के लिए तीन वक्त का भरपेट भोजन जरूरी है और 20 रुपये रोज पर गुजर करने वाले 80 करोड़ लोगों के लिए यह असम्भव है। अतः जनता के बेहतर पोषण के लिए आवश्यक है लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ाना ताकि वे पौष्टिक भोजन खरीद सकें। अतः देश के शासक खाद्यान्नों की उपलब्धता और पोषण का झूठा राग आलाप कर केवल जनता की आँखों में धूल झोंक रहे हैं। पोषण की समस्या का यह समाधान कतई नहीं हो सकता कि देश के कृषि क्षेत्र को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले कर दिया जाये। कम्पनियों का मकसद मुनाफा लूटना है, देश की जनता को मुफ्त में पैष्टिक भोजन उपलब्ध करा कर पुण्य कमाना नहीं।

इस समझौते के तहत खेती में निवेश की इजाजत से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को एक बड़ा बाजार मिल गया है। यहाँ बहुत कम निवेश करके भी वे लम्बे समय तक भारी मुनाफा कमा सकते हैं। दूसरी ओर, पहले से ही संकटग्रस्त भारतीय किसानों का संकट और ज्यादा गहराता जायेगा और छोटी-छोटी जोतों से किसी तरह दो जून की रोटी का जुगाड़ कर रहे करोड़ों किसानों का अपनी जमीन से उजड़ना निश्चित है।

देश के कृषि क्षेत्र को अमरीकी कृषि व्यापार के अनुकूल बना दिये जाने का अर्थ है अमरीकी जैव प्रौद्योगिकी और जीन तकनीक से तैयार कृषि उत्पादों के लिये देश में पहले से लगी रोकों को हटा देना। अमरीका जीन तकनीक तो विकसित कर चुका है

परन्तु अब तक इससे कोई बड़ा आर्थिक लाभ हासिल नहीं कर पाया। कारण यह है कि इस तकनीक से तैयार कृषि उत्पादों से होने वाले स्वास्थ्य एवं पर्यावरण सम्बन्धी गम्भीर नुकसान को देखते हुए दुनिया के अधिकतर देश मुख्यतः यूरोप और दक्षिणी अमरीका के देश इन पर पूर्णतया रोक लगाये हुए हैं जिसके चलते अमरीका के लिये यह तकनीक कूड़े के ढेर के सामान हो चुकी है। भारत द्वारा रोक हटा लिये जाने से अमरीका का यह कूड़े का ढेर तो सोने के ढेर में बदल जायेगा, परन्तु इससे जहाँ एक ओर देश का पर्यावरण और जैव विविधता तबाह होगी वहीं दूसरी ओर देश की जनता नयी-नयी गम्भीर बीमारियों का शिकार बनेगी।

इन समझौतों को देखकर किसी के भी मन में सवाल हो सकता है कि भारतीय शासक अमरीका के साथ ऐसे समझौते क्यों कर रहे हैं जो देश की जनता के हित में नहीं हैं, सच्चाई यह है कि अमरीका के साथ रणनीतिक साझेदारी, नाभिकीय समझौते और विदेश नीति के मामले में पिछलग्गूपन ने भारतीय शासकों के लिये ऐसी स्थिति तैयार कर दी है कि अमरीका के साथ बातों की मेज पर बैठने पर उनके पास अमरीका की सारी शर्तों को मान लेने के अलावा और कोई चारा नहीं होता। यहाँ के शासकों की चिन्ता यही होती है कि देश में इन नीतियों पर आम सहमति बनाकर उसे लागू कैसे करें। उनका सौभाग्य है कि इस काम में उन्हें विरोध का सामना नहीं करना पड़ता, क्योंकि न तो संसद में विपक्ष जैसी कोई चीज रह गयी है जो इन नीतियों का विरोध करे और न ही संसद के बाहर इन जन-विरोधी नीतियों के खिलाफ जनता की ओर से कोई व्यापक जन-आन्दोलन हो पाता है। इसीलिए शासकों के तमाम जन विरोधी फैसले बेरोकटोक लागू हो जाते हैं। नतीजा यह कि भारतीय समाज का अन्तरविरोध लगातार गहराता जा रहा है। स्थिति लगातार इन अन्तरविरोधों को उग्र बनाने और सतह पर लाने की ओर बढ़ रही है। हमारे देश के अदूरदर्शी शासक वर्ग लगातार अपने ही बनाये हुए गढ्ढे की ओर बढ़ते जाने को अभिशप्त हैं।

क्या स्विस बैंक में जमा 75,00,000 करोड़ काला धन वापस आयेगा?

पूर्व सांसद और विख्यात वकील राम जेठमलानी ने कहा है कि भारत के लगभग 75,00,000 करोड़ रुपये स्विस बैंक में जमा हैं। यह राशि भारत में एक साल के दौरान पैदा हुई कुल सम्पत्ति (सकल घरेलू उत्पाद) का डेढ़ गुना है। अभी हाल ही में आयकर विभाग ने पूना के एक व्यापारी से 37,000 करोड़ रुपये टैक्स जमा करने की माँग की थी। इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इस व्यापारी ने कितनी बड़ी राशि टैक्स चोरी करके जमा की होगी। स्विस बैंक खाते में इस व्यापारी के भी 41,000 करोड़ रुपये जमा हैं।

राम जेठमलानी ने माँग की है कि कई राजनीतिज्ञों और व्यापारियों ने स्विस बैंक में अपना जो धन जमा कर रखा है उसकी जाँच होनी चाहिए और उनसे पूछना चाहिए कि इस धन का स्रोत क्या है? 2002 में भारत सरकार ने काले धन को सफेद बनाने वाला कानून (मनी लॉण्ड्रिंग एक्ट) पास किया था जिसे 2003 तक प्रभावी नहीं बनाया गया। 2007 में एक अन्तरराष्ट्रीय कम्पनी ने इस बात का भण्डाफोड़ किया कि भारत सहित तमाम देश किस तरह अपना काला धन विदेशों में जमा कर रहे हैं। इसके बाद ही सरकार ने इस कानून को लागू किया।

स्विस बैंक के अधिकारी बता चुके हैं कि यदि भारत सरकार काले धन के मामले की छानबीन करे तो वह उसे खातेदारों के ब्यौरे देने को तैयार है। स्विस बैंक में जमा काला धन वापस न लाने का सरकार पर आरोप लगाते हुए राम जेठमलानी ने कहा कि 2007 से अब तक भारत सरकार ने स्विस बैंक से कोई सम्पर्क नहीं किया। यदि स्विस बैंक में जमा 75,00,000 करोड़ रुपया वापस भारत लाया गया तो प्रत्येक भारतीय परिवार के हिस्से 2,50,000 रुपये आयेंगे। इससे सबके लिए बेहतर शिक्षा और इलाज का इन्तजाम हो सकता है और अगले 30 सालों तक भारत के बजट में कोई टैक्स लगाने की जरूरत नहीं होगी। सरकार ने न्यायालय में एक हलफनामा दाखिल किया है कि उसने स्विस बैंक के खाता धारकों की सूची हासिल कर ली है, लेकिन वह उन नामों का भेद खोलना नहीं चाहती जो सरासर धोखा है।

जाहिर है कि इस देश में कोई भी सरकार काले धन से सम्बन्धित कानून लागू करने की इच्छुक नहीं है। पिछले 20 वर्षों से स्विस बैंक खाते में जमा काला धन दिन-दूनी रात- चौगुनी रफ्तार से बढ़ रहा है। जिन लोगों का काला धन जमा है उन्हीं के ऊपर उसे वापस लाने की जिम्मेदारी भी है फिर भला इस दिशा में वे क्यों कदम उठायेंगे। यह मौसेरे भाईयों के बीच का आपसी मामला है।

ब्राजील की स्वतंत्र विदेश नीति

दुनिया में ऐसे देश हैं जो अमरीका की नाक के नीचे भारत की अपेक्षा ज्यादा स्वावलम्बी घरेलू नीति और सापेक्षतया स्वतंत्र विदेशी नीति अपना रहे हैं। ब्राजील के राष्ट्रपति लूला ने अभी हाल ही में ईरान के खिलाफ अमरीकी प्रतिबन्ध की पहल-कदमी का समर्थन करने के प्रस्ताव को दो-टूक शब्दों में ठुकरा दिया। उसने कहा ईरान की आर्थिक नाकेबन्दी का कदम विवेकपूर्ण नहीं है। गौरतलब है कि भारत की तरह ब्राजील भी राष्ट्र संघ का स्थायी सदस्य बनने की तरफ अग्रसर है। ओबामा भले ही लूला की तारीफ करते हों, लेकिन आर्थिक संकट के बाद लूला अमरीकी आर्थिक नीतियों के कटु आलोचक रहे हैं।

एक मोची के घर जन्मे लूला, धातुकर्मी मजदूर थे जो जन संघर्षों से होकर सत्ता तक पहुँचे हैं। आज वे रिटायर होने के करीब हैं फिर भी जनता के बीच उनकी लोकप्रियता का स्तर 76 प्रतिशत है। सन् 2003 से अब तक ब्राजील में गरीबों की न्यूनतम आय दुगुनी होकर 300 डॉलर हो गयी है और वहाँ के लगभग 2 करोड़ नागरिक गरीबी से ऊपर उठ गये हैं। सरकारी कर्ज सकल घरेलू उत्पाद का 55 प्रतिशत था जो घटकर 35 प्रतिशत हो गया है। ब्राजील की मुद्रा पिछले दिनों पाँचवी सबसे अच्छी कारोबार करने वाली मुद्रा थी। आज वहाँ महँगाई दर घटकर 4 प्रतिशत हो गयी। लूला ने ब्राजील की अर्थव्यवस्था की नाव को आर्थिक संकटों के भँवर से बिना बाधा के पार लगा दिया। हालाँकि लूला की सरकार पर भ्रष्टाचार के आरोप भी लगे, लेकिन फिर भी उसकी उपलब्धियों को नकार पाना किसी के लिए सम्भव नहीं। ब्राजील के तटों पर पेट्रोलियम की खोज से उत्साहित लूला ने घोषणा की कि वे तेल से प्राप्त आय को गरीबी उन्मूलन की योजना में लगायेंगे।

किसी भी देश की विदेश नीति और घरेलू नीति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अपनी जनोन्मुख घरेलू नीतियों के कारण ही दुनिया में ब्राजील का कद ऊँचा हुआ है। साथ ही तीसरी दुनिया के देशों के साथ ब्राजील के बेहतर राजनीतिक सम्बन्ध बने हैं। ईरान के साथ ब्राजील का व्यापार 2003 की तुलना में बहुत बढ़ गया है। ईरान के अलावा चीन के साथ भी ब्राजील के सम्बन्ध अच्छे हैं। अमरीका के बजाय चीन उसका सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है। ब्राजील, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका के सहकार संगठनों में लूला ने ही वैश्विक स्तर पर पर्यावरण और वित्तीय संकट के मुद्दे पर सबसे उग्र आवाज बुलन्द की।

ब्राजील में उग्र आमूल और उथल-पुथल भरे परिवर्तन तो नहीं हो रहे हैं। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में रहते हुए जो बेहतर किया जा सकता है, ब्राजील उसी दिशा में बढ़ रहा है। लूला ने आत्मनिर्भर घरेलू अर्थव्यवस्था, अमरीकी वित्तीय तंत्र से सम्बन्ध विच्छेद और विकासशील देशों से बेहतर सम्बन्धों की पहल के साथ-साथ अपनी स्वतंत्र विदेश नीति भी अपनायी। इसलिए आज लूला विभिन्न राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मुद्दों पर बेबाक तरीके से बोलते और पक्ष चुनते हैं।

दूसरी ओर हमारे देश के शासक अपनी जनविरोधी नीतियों के कारण जनता से कटते जा रहे हैं। वे अपना आत्मविश्वास खो चुके हैं। इसकी झलक अमरीका परस्त विदेश नीति में भी मिलती है। अमरीका के इशारे पर परमाणु मुद्दे पर ईरान के खिलाफ वोट देना भी इसी का नतीजा था। अमरीकी पिछलग्गूपन के चलते ही अपने पड़ोसी देशों और पुराने गुटनिरपेक्ष सहयोगियों के बीच भारत की साख काफी गिरी है। भारत ईरान से कच्चे तेल की बड़ी मात्रा खरीदता था। 2009 तक, रिलायन्स जैसी भारतीय कम्पनियाँ अपने संशोधित उत्पाद ईरान में बेचती थी। अमरीका परस्त नीतियों के चलते इसे भी बन्द करना पड़ा। हाल ही में भारत-ईरान पाकिस्तान गैस पाइप लाइन के मामले में अमरीका ने भारत को सीधी सलाह (आदेश) दी कि वह इस करार में शामिल न हो, जबकि यह सौदा भारत के हित में था। अमरीका का पिछलग्गू होना भारतीय शासक वर्ग की इच्छा या अनिच्छा की बात नहीं है। 1991 में उदारीकरण की जो नीतियाँ इन्होंने अपनायी उसी का यह नतीजा है। बीच-बीच में दाएँ-बाएँ करते हुए एक-दो मुद्दों पर ये अमरीका के प्रति अपना विनम्र विरोध भी जता देते हैं। जैसे अभी इन्होंने कहा है कि "ईरान पर प्रतिबन्ध लगाने से ईरान से सम्बन्धित समस्याएँ हल नहीं होंगी।" लेकिन यह भी उनकी अपनी पहल नहीं यह अपने सहयोगी देशों के स्पष्ट रूख का समर्थन है, अमरीका के निर्णय का खुला विरोध नहीं। दुनिया की परिस्थितियों और अमरीका के रूख को देखते हुए आज यदि किसी देश का शासक वर्ग आत्मनिर्भर आर्थिक विकास और स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण करे तो यह विकल्प खुला है। लूला का ब्राजील इसका स्पष्ट उदाहरण है। जाहिर है कि हमारे शासक अपनी समर्पणवादी नीतियों को जायज ठहराने के लिए विकल्पहीनता का झूठा रोना रोते रहते हैं।

ईरान पर प्रतिबन्ध की अमरीकी कोशिश

खुद मियां फजीहत, दूसरों की नसीहत

अप्रैल के पूर्वार्ध में अमरीका ने वाशिंगटन में परमाणु शिखर सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन का मुख्य मकसद इस बात को सुनिश्चित करना था कि नाभिकीय हथियार आतंकवादियों के हाथ न लग पायें, परन्तु ईरान व उत्तरी कोरिया को इससे बाहर रखने और इस सम्मेलन में उनके खिलाफ नये प्रतिबन्ध लगाने के लिए दूसरे देशों पर दबाव डालने की अमरीकी कोशिश से यह साफ हो गया कि इस सम्मेलन का असली उद्देश्य ईरान पर और नये प्रतिबन्ध थोपना है। इस सम्मेलन से पहले रूस के साथ हुए नाभिकीय निरस्त्रीकरण समझौते से लग रहा था कि अमरीका के नये राष्ट्रपति बराक ओबामा निरस्त्रीकरण के प्रति पूर्व अमरीकी राष्ट्रपति बुश की अपेक्षा ज्यादा गम्भीर हैं, लेकिन इस सम्मेलन ने साफ कर दिया कि अमरीका की परमाणु नीति मे मूलतः कोई बदलाव नहीं आया है। इस सम्मेलन में रूस, चीन ब्राजील और भारत समेत दुनिया के कई देशों द्वारा ईरान पर नये प्रतिबन्ध का समर्थन न करने के चलते अमरीका ईरान पर नये प्रतिबन्ध लगाने के अपने मकसद में कामयाब नहीं हो पाया।

अमरीकी सम्मेलन के जवाब में ईरान ने तेहरान में नाभिकीय निरस्त्रीकरण पर दो दिवसीय (17-18 अप्रैल) अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जिसमें रूस, चीन और भारत समेत लगभग 60 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अमरीका के आगे घुटने टेक कर आईएईए में तीन बार ईरान के खिलाफ मतदान करने वाला भारत भी इस सम्मेलन में शामिल हुआ और निरस्त्रीकरण पर ईरान के रुख का समर्थन किया नाभिकीय ऊर्जा पर सभी देशों का हक और दुनिया को नाभिकीय हथियारों से पूरी तरह मुक्त करना इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया गया था। इसी के साथ ईरान का उद्देश्य एक बार फिर दुनिया के देशों के सामने यह स्पष्ट करना था कि उसका परमाणु कार्यक्रम अपनी ऊर्जा सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने के लिये है। परमाणु बम बनाने के लिए नहीं।

ईरान ने अब तक आईएईए के मानदण्डों के अनुसार अपने सभी अन्तरराष्ट्रीय दायित्वों को पूरा किया है। उसने एनपीटी के तीन मुख्य स्तम्भों नाभिकीय निरस्त्रीकरण, नाभिकीय ऊर्जा का शान्तिपूर्ण उद्देश्यों में उपयोग और नाभिकीय हथियारों में कमी को भी किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचाया है। इसके विपरीत अपने अन्यायपूर्ण, आत्मकेन्द्रित और पक्षपाती नजरिये के चलते परमाणु शक्ति सम्पन्न अमरीका खुद ही इस सन्धि को निष्प्रभावी कर चुका है। ईरान व अरब देश चाहते हैं कि पश्चिमी एशिया का पूरा क्षेत्र नाभिकीय शस्त्रों से मुक्त हो, लेकिन अमरीका की मंशा कुछ और ही है। वह चाहता है कि यह प्रस्ताव दूसरे सभी देश लागू करें, लेकिन उसके लठैत के नाभिकीय हथियारों पर कोई बात भी न करे। अमरीका का मानना है कि यदि नाभिकीय हथियार उसके विरोधियों के पास हैं तो बहुत बुरा है और यदि उसके व उसके पिछलग्गू देशों के पास हैं तो वे उनकी सुरक्षा के लिये बेहद जरूरी है। इसी दोहरेपन के चलते उसकी निरस्त्रीकरण की नौटंकी पर शायद ही किसी को भरोसा हो।

वास्तव में अमरीका चाहता है कि ईरान उसके वर्चस्व को स्वीकार कर उसके सामने समर्पण कर दे। लेकिन ईरान अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान और सम्प्रभुता को कायम रखते हुए अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ मजबूती से खड़ा है। नाभिकीय निरस्त्रीकरण के मुद्दे पर ईरान को दूसरे बहुत से देशों का समर्थन प्राप्त है। वहीं दूसरी ओर अमरीका की स्थिति खुद मियां फजीहत, दूसरों को नसीहत वाली हो गयी है।

अफ्रीका की लूट और कंगाली

अमरीका स्थित शोध संस्था ग्लोबल फाइनान्सियल इन्टिग्रिटी द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट- अफ्रीका से अवैध वित्तीय प्रवाह : विकास का गुप्त स्रोत में कहा गया है कि पिछले 40 वर्षों में अफ्रीका महाद्वीप से 180,000 करोड़ डॉलर का नाजायज धन पश्चिमी वित्तीय संस्थाओं में भेजा गया है। यह धन वहाँ के नेताओं और अधिकारियों के भ्रष्टाचार से इकट्ठा किया गया है।

पूरी दुनिया में अवैध धन का जो प्रवाह होता है उसकी तुलना में यह राशि केवल 3 प्रतिशत है। भ्रष्टाचार के अलावा इस अवैध धन का स्रोत विदेशी व्यापार में कीमतों में हेराफेरी करके टैक्स चोरी, नशीली वस्तुओं की तस्करी और जालसाजी है।

विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुमान के मुताबिक यह अवैध धन राशि 85,400 करोड़ डॉलर है। अफ्रीका पर कुल विदेशी कर्ज 25,000 करोड़ डॉलर है। यदि यह लूट नहीं होती तो विदेशी कर्ज चुकाने के बाद भी अफ्रीकी जनता के 60,000 करोड़ डॉलर बच जाते। तब क्या अफ्रीका ऐसी भयावह गरीबी और आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार होता। जाहिर है कि इस लूट के जिम्मेदार अफ्रीका शासक वर्ग हैं जो साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ कर अपने ही देश को लूट रहे हैं और जनता को नरक में धकेल रहे हैं।

महिला आरक्षण बिल और समाज में महिलाओं की स्थिति

□रामू

महिला आरक्षण बिल तमाम शोर-शराबे के बीच 9 मार्च को राज्य सभा में पारित हो गया। संसद और विधान सभा में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण देने वाले इस बिल को समर्थन में 186 और विरोध में केवल एक वोट पड़ा।

इस बिल को लेकर मीडिया ने कुछ ऐसा माहौल बनाया कि इसका विरोध या समर्थन करना सम्पूर्ण नारी जाति का दुश्मन या दोस्त बनने के समतुल्य हो गया। राज्य सभा में बिल का विरोध करते हुए उसकी प्रतियाँ फाड़ने वाले तीन अनाम-गुमनाम सांसद रातोंरात बदनामी मोल लेकर प्रसिद्ध हो गए। लगे हाथ बिल के समर्थकों में भी नारी मुक्ति अलम्बरदार बनने की होड़ सी लग गई। प्रधानमंत्री ने जहाँ इस बिल को "भारतीय महिलाओं की मुक्ति की ओर एक ऐतिहासिक कदम बताया" वहीं इसके विरोधियों ने भी अपनी पार्टी वचनबद्धता की परवाह किए बिना इसके खिलाफ मोर्चा खोल दिया।

इस बिल को लेकर पक्ष-विपक्ष की पार्टियों में पिछले 14 वर्षों से उठा-पटक और नूरा-कुश्ती चल रही है। इस बार भी इसका वही हश्र हुआ। सरकार ने अपने ही गठबन्धन के सहयोगियों का रुख और भावी खतरों को भाँपते हुए इसे बजट सत्र के दूसरे चरण में लोक सभा में पेश करने का 'आइडिया ड्राप' कर दिया। इसके साथ ही प्रधानमंत्री का "महिला मुक्ति की दिशा में बढ़ाया गया ऐतिहासिक कदम भी थम गया।

महिला आरक्षण बिल के इस शोर-सराबे में भारतीय समाज में महिलाओं की वर्तमान दुर्दशा का प्रश्न कहीं सुनाई नहीं दिया। सवाल यह है कि क्या राजनीति प्रतिनिधित्व में आरक्षण का औपचारिक अधिकार भर लेने से ही महिलाओं की गुलामी खत्म हो जाएगी? यह बिल महिलाओं की मुक्ति की ओर बढ़ाया गया ऐतिहासिक कदम है या उनकी आँखों में धूल झोंकने की धूर्ततापूर्ण चाल है। भारतीय समाज और आर्थिक जगत में आज महिलाओं की दोयम दर्जे की हैसियत को देखते हुए यह नाममात्र का राजनीतिक अधिकार क्या सचमुच नाममात्र का ही नहीं रह जाएगा? और फिर महिलाओं की स्थिति में बुनियादी बदलाव लाने का सही रास्ता क्या हो सकता है?

इन सवालों का सही उत्तर पाने के लिए हमें वर्तमान भारतीय समान में महिलाओं की स्थिति पर एक सरसरी नजर डाल लेना जरूरी है।

आज अधिकांश भारतीय महिलाएँ कमोबेश दासियों की स्थिति में हैं। आजादी के बाद ही भारतीय संविधान में औपचारिक तौर पर महिलाओं को भी पुरुषों के बराबर सार्विक मताधिकार और मैलिक अधिकार हासिल हो गया। अधिकांश भारतीय महिलाओं की स्थिति यही है कि अपने बारे में छोटे-छोटे निर्णय भी वे खुद नहीं ले सकती हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जिसमें अपना जीवन साथी चुनने का अहम फैसला भी शामिल है, बहुसंख्य भारतीय महिलाओं को आज तक प्राप्त नहीं हुआ। अगर वे ऐसी जुर्रत करती हैं तो उन्हें अपने ही परिवार, बिरादरी, खाप या रिश्तेदारों द्वारा मौत के घाट उतारने का फरमान जारी कर दिया जाता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का संवैधानिक अधिकार उन्हें हासिल है, लेकिन घर-परिवार या समाज में यदि वे जुबान खोलती हैं तो इसे बदतमीजी और बेशर्मी समझा जाता है और उन्हें निर्मम-प्रताड़ना का भी शिकार होना पड़ता है। भारतीय समाज में सुशील और सुसभ्य औरत वही है जो अपने आत्मनिर्णय और अभिव्यक्ति की आजादी को पितृसत्तात्मक समाज के पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों के आगे समर्पित करती है और पुरुषों द्वारा अपने लिए निर्धारित मर्यादाओं का पालन करती हैं। संवेदनशील, सरोकारहीन भारतीय समाज अपनी माँओं, बेटियों, बहनों और पत्नियों के साथ बेरहमी से पेश आता है। इसका सबसे कड़ा तथ्यात्मक प्रमाण यह है कि भारत में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या 4 करोड़ 27 लाख कम है (वर्ष 2007 में)। यह कमी प्राकृतिक नहीं है। वैज्ञानिक शोध बताते हैं कि लड़कों की तुलना में लड़कियाँ अधिक संख्या में जन्म लेती हैं, फिर हमारे देश में महिलाओं की जनसंख्या 48.2 प्रतिशत ही क्यों है? शेष 4 करोड़ 27 लाख महिलाएँ कहाँ गायब हो गईं ? साफ शब्दों में कहा जाय तो वे भारतीय समाज की पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों की बलिवेदी पर भेंट चढ़ा दी गईं। इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इनके ही पिता, पति, भाई, रिश्तेदार या गाँव-मोहल्ले वालों ने मार डाला। इनमें से अधिकांश को जन्म से पहले माँ के गर्भ में ही स्त्री भ्रूण के रूप में पहचान करके मार डाला गया। आधुनिक तकनीक और मर्दवादी मूल्यों के गठजोड़ ने स्त्री शिशु हत्या की दर को बहुत तेजी से बढ़ा दिया। जो लड़की संयोगवश जन्म से पहले मरने से बच गयी, उनमें से कुछ उपेक्षा का शिकार होकर तो कुछ कुपोषित और बीमार हो कर मर गयीं। भारत में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में शिशु मृत्यु दर 40 प्रतिशत अधिक है। महिलाओं की आबादी का एक अन्य बड़ा हिस्सा दहेज हत्या का शिकार हो गया। हमारे देश में 7,618 महिलाएँ प्रति वर्ष दहेज हत्या का शिकार होती हैं। यह आँकड़ा उन औरतों का है जिनकी मौत की रिपोर्ट लिखाई गयी। अधिकांश दहेज हत्याओं की रिपोर्ट कहीं दर्ज नहीं होती। कुछ औरतें समय के पहले शादी, गर्भधारण, कुपोषण, एनीमिया या इलाज के आभाव में दम तोड़ देती हैं। आँकड़ों की जुबान से कहें तो भारत में 40 प्रतिशत

महिलाओं की शादी न्यूनतम कानूनी उम्र से पहले कर दी जाती है। 16 प्रतिशत महिलाएँ 15-19 वर्ष की उम्र में गर्भवती हो जाती है। 63.2 प्रतिशत माताओं को प्रसूति के 2 दिन के अन्दर डाक्टर, नर्स या दाई की सेवा नसीब नहीं होती । 88 प्रतिशत महिलाएँ खून की कमी (एनीमिया) की शिकार हैं जिनमें 57.9 प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ हैं।

इन 4 करोड़ 27 लाख गायब महिलाओं में से कुछ बलात्कार के बाद हत्या करके फेंक दी गयी। 2008 में 20,000 बलात्कार की रिपोर्टें दर्ज करायी गयीं, जबकि एक अध्ययन के अनुसार बलात्कार की 68 घटनाओं में से सिर्फ एक की रिपोर्ट दर्ज होती है। बलात्कारियों में 92 प्रतिशत जाने-पहचाने लोग होते हैं। 2007 में महिलाओं के प्रति अपराध के मामलों में वर्ष 2006 की तुलना में 12.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

आखिर पुरुषों के बराबर औपचारिक और कानूनी अधिकार पाने के बावजूद महिलाएँ इस स्थिति में क्यों हैं? किन आर्थिक सामाजिक कारणों के चलते भारतीय महिलाएँ गुलामी की जिन्दगी जीने को विवश हैं? कोई भी समुदाय या वर्ग अपने औपचारिक कानूनी अधिकारों का वास्तविक जीवन में कितना उपयोग कर पाता है, वह सम्पत्ति और संसाधनों में उसकी वास्तविक हिस्सेदारी तथा उसकी जीविका के साधन पर निर्भर करता है। सच्चाई यह है कि भारतीय महिलाओं की सम्पत्ति तथा संसाधनों में हिस्सेदारी नहीं के बराबर है। प्राचीन काल से ही भू-सम्पत्तियों के मालिक प्रभुत्व की स्थिति में रहे हैं, जबकि भूमिहीन गुलामों, दासों, दासियों और भू-दासों की स्थिति में आज भारत के 1.19 करोड़ मालिक किसानों में मात्र 9.21 प्रतिशत महिलाएँ हैं, यानी मालिक किसान महिलाओं की कुल संख्या केवल 12.98 लाख है। कानूनी तौर पर मालिक होने के बावजूद इन महिलाओं में से कितनी महिलाएँ इन जमीनों पर वास्तव में हक रखती हैं यह एक अलग सवाल है।

औद्योगिक प्रतिष्ठानों और संस्थाओं में से अधिकांश के मालिक भी पुरुष ही हैं। इनमें महिलाओं का मालिकाना हिस्सा नगण्य है। संगठित क्षेत्र में नौकरी हमारे देश में आर्थिक आत्मनिर्भरता और मजबूत सामाजिक हैसियत का एक महत्त्वपूर्ण आधार है जहाँ काम करने वाली महिलाओं की कुल संख्या 50.16 लाख है। इसमें से 58 प्रतिशत सार्वजानिक क्षेत्र में तथा 42 प्रतिशत निजी क्षेत्र में है। सामाजिक उत्पादन में लगी भारत की कुल श्रम शक्ति लगभग 40 करोड़ है जिसमें महिलाओं की हिस्सेदारी सिर्फ 29 प्रतिशत के करीब है। महिला श्रमिकों का अधिकांश हिस्सा अनौपचारिक असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं जिसका सबसे बड़ा हिस्सा लगभग 85 प्रतिशत खेती में लगा है। खेती में 40 प्रतिशत महिला श्रमिक काम करती हैं, जो महिला श्रम शक्ति का सबसे बड़ा नियोजक है। शेष हिस्सा शहरी क्षेत्रों में कार्यरत हैं। रोजगार के सबसे बेहतर अवसर वाले कार्पोरेट हाउस में सिर्फ 6 प्रतिशत महिलाएँ हैं।

महिलाओं की अधिकांश आबादी घरेलू कामों में लगी हुई है। जिन्हें बोलचाल की भाषा में 'हाउस वाईफ' कहते हैं घर में वह दिन-रात तरह-तरह के शरीरिक-मानसिक श्रम करती हैं और विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती हैं, लेकिन उनके श्रम का कोई सामाजिक मूल्य नहीं होता। अपनी हाड़-तोड़ मेहनत के बदले निश्चित वेतन या मजदूरी तो दूर, उन्हें जेब खर्च के लिए भी बार-बार परिवार के मालिक, पुरुषों के आगे हाथ पसारना पड़ता है। उनकी स्थिति वेतनभोगी नौकरों-नौकरानियों से भी बदतर होती है, क्योंकि उनके काम की निश्चित समय सीमा नहीं होती और उन्हें चाहे भी तो काम से छुट्टी नहीं मिलती।

भारत में लगभग 29 प्रतिशत महिलाएँ सामाजिक उत्पादन में लगी हैं। इनमें से 85 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं जहाँ निश्चित रोजगार की कोई सुनिश्चितता नहीं है। मौसमी आधारों पर वर्ष में कुछ दिन उन्हें रोजगार मिलता है, जबकि कई महीने बेरोजगार रहती हैं कि इससे जीवन जीने की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो सकती, भविष्य की सुरक्षा का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

शहरी क्षेत्रों में कार्यरत महिला श्रम शक्ति का 40 प्रतिशत स्वरोजगार में लगा हुआ है जहाँ किसी तरह जिन्दगी चला पाना भी मुश्किल होता है। कुछ छोटे-छोटे कामों में लगी हैं, जैसे-- भवन निर्माण या लघु उद्योगों में सहायक काम, फैक्ट्रियों में अस्थाई मजदूरी। कुछ महिलाएँ झाड़ू-पोछा, साफ-सफाई या खाना बनाने जैसी सेवाएँ प्रदान करती हैं। बदले में इन्हें रोजमर्रा के जरूरी साधन जुटाना भी संभव नहीं हो पाता।

इस तरह, जी-तोड़ मेहनत के बावजूद अधिकांश भारतीय महिलाओं के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता का ऐसा कोई आधार नहीं जिसके बूते वे अपने बराबरी के कानूनी अधिकारों को वास्तविकता में बदल सकें। आजादी के 63 सालों बाद भी कुछ गिनी-चुनी महिलाएँ हीं आर्थिक तौर पर निर्भर हो पाती हैं। अधिकांश महिलाएँ दूसरों पर आश्रित हैं। आर्थिक आत्म-निर्भरता के बिना स्वतंत्रता और बराबरी की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सम्पत्तिहीन, संसाधनविहीन तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता से वंचित होने के साथ ही अधिकांश भारतीय महिलाओं की वैचारिक, राजनीतिक चेतना, शिक्षा का स्तर और संगठित स्थिति भी ऐसी नहीं है कि वे समाज में अपनी बराबरी के लिए संघर्ष कर सकें और अपनी दोयम दर्जे की स्थिति को बदल सकें।

2001 की जनगणना के अनुसार 45.4 प्रतिशत महिलाएँ निरक्षर हैं। माध्यमिक शिक्षा में महिलाओं का अनुपात 37 प्रतिशत है और स्नातक स्तर तक की शिक्षा में 34 प्रतिशत। महिलाओं में वैचारिक भारतीय महिलाएँ स्त्री-विरोधी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों से ग्रसित हैं। बचपन के संस्कारों, विचारों आदतों और मनोवृत्तियों ने इनके हाथ-पांव और दिमाग में बेड़िया डाल दी हैं। अधिकांश महिलाएँ अपने को खुद भी दोयम दर्जे का समझती हैं। उनकी नजर में लड़कियों की तुलना में लड़के श्रेष्ठ होते हैं। लड़कों को जन्म देकर वे खुद को भाग्यशाली और लड़की जन्म देने पर वे अपमानित समझती हैं। परिवार और समाज में स्थापित

पतियों और पुरुषों के वर्चस्व और प्रभुत्व को अधिकांश महिलाएँ स्वाभाविक मानती है। घरेलू और सामाजिक मामलों में सभी बड़े और जरूरी निर्णयों का अधिकार पुरुषों के पास हो इसे महिलाएँ भी उचित और न्यायसंगत मानती हैं। यहाँ तक कि वे अपने खिलाफ पुरुषों द्वारा की जाने वाली घरेलू हिंसा तक को जायज ठहराती हैं। विभिन्न सर्वेक्षण इस बात की पुष्टि करते हैं।

यह सही है कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त कुछ महिलाओं ने अपने बंधनों को एक हद तक तोड़ा है। उन्होंने आर्थिक आत्मनिर्भरता हासिल की है और सामाजिक, राजनीतिक या प्रशासनिक क्षेत्र में अपनी जगह बनायी है। लेकिन इनमें से अधिकांश महिलाएँ अपनी व्यक्तिगत सफलता का इस्तेमाल करके शेष महिलाओं को ऊपर उठाने के प्रयास करने के बजाय अपनी सीमित मुक्ति के आनन्द में ही लिप्त रहती हैं और गहराई से जड़ जमाए पितृसत्तात्मक विचारों तथा संस्कारों के चलते अन्ततः वे समाज की पिछड़ी परम्पराओं और मूल्यों के आगे समपर्ण कर देती हैं।

जहाँ तक महिलाओं की राजनीतिक चेतना का प्रश्न है अधिकांश भारतीय महिलाएँ अपनी नियति का निर्धारण करने वाली मौजूदा राजनीति से कोई सरोकार नहीं रखती। वे अपनी सारी चेतना और सरोकार परिवार, रिश्तेदार और आस-पड़ोस तक ही सीमित रखती हैं। भारतीय शासक वर्ग महिलाओं की गुलामी जैसी स्थिति को मूलतः बनाए रखता है। उनकी गुलामी के बुनियादी आधारों को छूता तक नहीं। महिलाओं के असन्तोष और पीड़ा को दूर करने के नाम पर उनके कल्याण के लिए वह खुद को औपचारिक कानूनी, सतही और भ्रामक सुधारों तक ही सीमित रखता है और वह भी कभी जमीन पर नहीं उतारा जाता।

महिला संगठनों की स्थिति तो और भी दयनीय है। अधिकांश बड़े महिला संगठन राजनीतिक पार्टियों द्वारा खड़े किए गये हैं। इन संगठनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ये अपनी पार्टियों के लिए वोट और भीड़ जुटाने का साधन मात्र हैं और नेतृत्वकारी महिलाओं के लिए पार्टी में पहुँच और खास जगह बनाने की सीढ़ी हैं। इन महिला संगठनों का महिला सवालों पर अपनी पार्टी से कभी कोई विरोध या टकराव नहीं होता। इन महिला संगठनों की अपनी कोई स्वतंत्रता नहीं है। इनका नेतृत्व कौन करेगा कार्यक्रम क्या होगा यह कुछ पार्टी के बड़े नेता तय करते हैं। प्रभुत्व वामपंथी दलों से जुड़े महिला संगठनों की भी कमोबेश यही स्थिति है। कई ऐसे प्रगतिशील महिला संगठन भी हैं जो महिलाओं की बराबरी चाहते हैं और इसके लिए समर्पित होकर काम भी करते हैं। लेकिन न तो इनका अखिल भारतीय स्वरूप है और न ही देशव्यापी प्रभाव। महिलाओं के व्यापक हिस्से के बीच इनकी पैठ भी नहीं है। ये कुछ इलाकों में, कुछ लोगों के प्रयास से वैचारिक-राजनीतिक चेतना का प्रचार-प्रसार करती हैं तथा स्थानीय स्तर पर छोटे-मोटे आन्दोलनों को भी संगठित करती है। लेकिन कुल मिलाकर वे इतने सशक्त नहीं है कि महिलाओं की स्थिति में बुनियादी बदलाव के लिए देशव्यापी संघर्ष को नेतृत्व दे सकें।

इन संगठनों के अलावा कुकुरमुत्ते की तरह उग आये स्वंयसेवी संगठन या एनजीओ भी हैं जो महिलाओं के कल्याण के नाम पर देशी-विदेशी दानदाताओं से धन लेकर अपना पेट पालने वालों से संचालित होते हैं। महिलाओं की वर्तमान जिन्दगी आर्थिक शोषण के साथ-साथ हजारों साल से चली आ रही पुरुष वर्चस्व की दोहरी मार झेल रही है। इससे निजात पाने का भौतिक वैचारिक-राजनीतिक और सांगठनिक आधार काफी कमजोर है। ऐसे में लोकसभा और विधान सभाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण देने भर से क्या उनकी स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन हो पाएगा? क्या महिला आरक्षण बिल महिलाओं की गुलामी को खत्म कर देगा? क्या इससे उन्हें सामाजिक, राजनीतिक और जीवन के अन्य क्षेत्रों में बराबरी तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता और निर्णय का अधिकार मिल पायेगा? क्या यह आरक्षण महिलाओं के लिए प्रतीकात्मक राजनीतिक प्रतिनिधित्व बन कर नहीं रह जाएगा? महिलाओं की स्थिति से बुनियादी परिवर्तन की इच्छा रखने वालों का महिला आरक्षण बिल के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? स्वयं महिलाओं का इसके प्रति क्या रुख होना चाहिए? प्रतिनिधि संस्थाओं में महिलाओं के आरक्षण का महिलाओं की स्थिति- विशेषकर स्त्री-पुरुष समानता पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसे हम दुनिया के उदाहरणों से समझ सकते हैं। संसद में राजनीतिक प्रतिनिधित्व तथा समाज में महिलाओं की बराबरी का आपस में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। विश्व के 40 देशों की संसद में महिलाओं को पहले से भी आरक्षण प्राप्त है, लेकिन उनमें कई देश ऐसे है जहाँ महिलाओं की स्थिति काफी खराब है। दक्षिण एशिया के देशों में श्रीलंका को छोड़कर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बांग्लादेश तथा नेपाल की संसद में महिलाओं को पहले से ही आरक्षण प्राप्त है। अंगोला और नेपाल महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधत्व के मामले में विश्व में क्रमशः 10वाँ और 17वाँ स्थान रखते हैं। लेकिन दूसरी ओर स्त्री पुरुष समानता में उनका स्थान काफी नीचे क्रमशः 106वाँ और 110वाँ स्थान है। आयरलैण्ड और श्रीलंका की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मामलों में इनका स्थान काफी नीचे है, क्रमशः 87वाँ और 125वाँ, जबकि स्त्री-पुरुष समानता के मामले में उनका स्थान काफी ऊपर क्रमशः 8वाँ और 16वाँ है। इस संदर्भ में भारत की स्थिति पर विचार करें तो 128 देशों की सूची में स्त्री-पुरुष समानता के मामले में भारत का स्थान 114वाँ है, जबकि वर्तमान में राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मामले में उनका स्थान 99वाँ है। यदि 33 प्रतिशत आरक्षण का बिल पास हो जाए तो राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मामले में भारत का 18वाँ स्थान हो जाएगा। लेकिन इससे स्त्री पुरुष समानता की मौजूदा स्थिति पर भला क्या फर्क पड़ेगा।

महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर महिलाओं के पहुँचने से भी यह तय नहीं होता कि उस देश में महिलाओं की स्थिति बेहतर हो रही है। हमारे देश में महिलाओं के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर पहुँचने का उदाहरण देकर ऐसा ही भ्रम फैलाया जा रहा है। भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। पिछले दो दशकों से बांग्लादेश में कोई न कोई महिला ही

प्रधानमंत्री रही है, चाहे शेख हसीना हो या बेगम खालिदा जिया। लेकिन स्त्री-पुरुष समानता के मामले में वहाँ कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि विश्व के अन्य देशों की तुलना में गिरावट ही आयी है। 2008 में स्त्री-पुरुष समानता के मामले में उसका 90वाँ स्थान था जो गिरकर अब 94वाँ हो गया, जबकि इस दौरान वहाँ प्रधानमंत्री महिला ही थी।

पाकिस्तान में बेनजीर भुट्टो लम्बे समय तक प्रधानमंत्री रही, लेकिन उन्होंने पाकिस्तानी महिलाओं की स्थिति में बदलाव लाने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया था। यहाँ तक कि स्त्री विरोधी बर्बर अध्यादेश हुद हुद को भी खत्म नहीं कर सकी जिसमें प्रावधान था कि यदि कोई महिला किसी पुरुष पर बलात्कार का आरोप लगाती है तो इसे साबित करने के लिए उसे चार पुरुष गवाह पेश करने होंगे। यदि वह ऐसा न कर पाए तो उसे सार्वजनिक तौर पर पत्थर मारा जाता है। हमारे अपने देश में इंदिरा गाँधी लम्बे समय तक प्रधानमंत्री रही लेकिन उस दौरान कोई भी ऐसा कड़ा कदम नहीं उठाया गया, जो महिलाओं की गुलामी की स्थिति को तोड़ने में सहायक हो।

आजादी के तत्काल बाद दलितों और आदिवासियों के लिए संसद और विधानसभाओं में आरक्षण दिया गया था। इससे उनके बीच से एक हिस्सा ऊपर उठकर सामाजिक राजनीतिक जीवन की मुख्यधारा में शामिल हुआ। हालाँकि भारी संख्या में दलित समुदाय आज भी समाज के तलछट में जीने को अभिशप्त है। गौर करने की बात यह भी है दलितों को आरक्षण का एक हद तक लाभ इसलिए मिला कि जिस दौर में आरक्षण मिला था उस समय स्वतंत्रता आन्दोलन की ऊर्जा तथा जन-दबाव काफी हद तक मौजूद था। जबकि महिलाओं को ऐसे दौर में आरक्षण देने की बात चल रही है जब भारत में पिछले 20 वर्षों से देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ की जनविरोधी नीतियाँ लागू की जा रही हैं। जनता और देश के हित से जुड़े बुनियादी निर्णय संसद के बाहर साम्राज्यवादी देशों, साम्राज्यवादी संस्थाओं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और वित्तीय पूँजी के मालिकों के साथ साँठ-गाँठ करके लिए जा रहे हैं। सत्तापक्ष-विपक्ष के बीच इन जनविरोधी तथा देश विरोधी आर्थिक नीतियों पर लगभग सहमति है। पूरा देश मुट्ठीभर देशी मुनाफाखोरों तथा साम्राज्यवादी लुटेरों के गठजोड़ के हितों के अनुरुप चलाया जा रहा है। लोक सभा के दो-तिहाई सदस्य घोषित तौर पर अरबपति-करोड़पति हैं। संसद तथा विधान सभाओं का चुनाव लड़ने के लिए करोड़ों का मालिक होना जरूरी है। यहाँ तक कि महिलाओं की प्रतिनिधि कही जाने वाली महिला सांसदों में 68 प्रतिशत करोड़पति हैं। ऐसे दौर में क्या महिला आरक्षण बिल की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लग जाता?

सवाल यह है कि आखिर भारतीय शासक वर्ग महिला आरक्षण बिल को एक ऐतिहासिक कदम और महिलाओं की मुक्ति की दिशा में मील का पत्थर के रूप में प्रचारित-प्रसारित करने में कैसे सफल हो पाए?

दरअसल हमारे देश में लोकतंत्र के व्यापक अर्थ को संकुचित करके उसे मत, मतदान तथा प्रतिनिधि चुनने तक सीमित कर दिया गया है। वास्तविक जीवन में बराबरी और जनतंत्र से इसका कोई लेना देना नहीं है। भारतीय जनमानस चुनावी प्रक्रिया और रूप को ही लोकतंत्र मानकर उसके प्रति श्रद्धा रखता है। लोकतांत्रिक मूल्य, लोकतांत्रिक चेतना, परिवार, समाज और संस्थानों में वास्तविक लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों का सर्वथा अभाव है। हर तरह के सामाजिक भेद-भाव, ऊँच-नीच मानवाधिकारों का हनन, समाज में जारी है। कदम-कदम पर जनता के लोकतांत्रिक और संवैधानिक अधिकारों का हनन होता है। लेकिन फिर भी हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है-- क्योंकि यहाँ हर पाँच साल पर वोट पड़ता है। जनतंत्र के इस संकुचित और विकृत अर्थ को दैविक और धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो तो लोगों को लोकतंत्र के बारे में भरमाना आसान है। महिला आरक्षण बिल पर सरकार का भ्रम फैलाना इसीलिए आसान हो गया। रही सही कसर व्यवस्था पोषक मीडिया ने कर दी।

हम शोषित-पीड़ित वर्गों और तबकों को मिलने वाले किसी भी अधिकार और उनके हित में किसी भी सुधार का समर्थन करते हैं। महिला आरक्षण बिल का भी हम समर्थन करते हैं। लेकिन सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के लक्ष्य को देखते हुए हम इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सकते। हम सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक जीवन में शत-प्रतिशत महिलाओं की भागीदारी और उनकी पूर्ण बराबरी के समर्थक हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम न केवल राजनीतिक संस्थानों में बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में महिलाओं के लिए 50 फीसदी आरक्षण के समर्थक हैं। इसीलिए हम महिला सशक्तिकरण की आड़ में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किये जा रहे किसी भी ढोंग-पाखण्ड और दिखावटी सुधारों से बेहद नफरत करते हैं।

अधिकांश भारतीय महिलाओं की दासियों जैसी स्थिति को बुनियादी तौर पर बदलने के लिए और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खात्मे के लिए व्यापक स्तर पर महिलाओं को संगठित होना होगा, उन्हें पितृसत्तात्मक मूल्यों से मुक्ति और बराबरी का हक पाने के लिए खुद ही आगे आना होगा। इसके साथ ही उन्हें पितृसत्तात्मक व्यवस्था को संरक्षित करने वाले और उसे बनाये रखने वाले पूँजीवादी-साम्राज्यवादी गठजोड़ के खिलाफ भी संघर्ष करना पड़ेगा। अपने संघर्ष को निर्णायक विजय तक पहुँचाने के लिए महिलाओं को किसानों-मजदूरों तथा अन्य मेहनतकश तबकों के संघर्षों से भी एका कायम करना पड़ेगा। व्यवस्थाविरोधी सभी वर्गों तथा तबकों की एका के बिना पितृसत्तात्मक व्यवस्था को निर्णायक शिकस्त नहीं दी जा सकती है।

यह निर्विवाद सच्चाई है कि कोई भी अधिकार भीख में नहीं मिलता और न ही उसे कोई थाल में सजा कर पेश करता है। अधिकार लड़कर हासिल किया जाता है और लड़कर ही उसकी हिफाजत की जाती है। ❑

इरोम शर्मिला की बहादुरी को सलाम!

□पारिजात

पैंतीस वर्षीय बहादुर मणिपुरी महिला इरोम शर्मिला पिछले दस सालों से अनिश्चित कालीन भूख हड़ताल पर हैं। पिछले पाँच सालों से उन्होंने अपने मुँह से कुछ भी नहीं खाया। नाक में नली द्वारा भोजन और जरूरी आहार देकर उन्हें जिन्दा रखा जा रहा है। उनकी माँग है कि मणिपुरी जनता के खिलाफ इस्तेमाल किया जा रहा दमनकारी कानून आर्म्स फोर्स स्पेशल पावर एक्ट 1985 (एएफएसपीए) को समाप्त किया जाए, पेशे से पत्रकार, मानवाधिकार कार्यकर्त्री, सामाजिक कार्यकर्त्री और कवियित्रि इरोम शर्मिला भूख हड़ताल के चलते दुर्बल-बेजान बूढ़ी औरत में बदल गयी हैं। लेकिन उनकी आँखों में आज भी अमन की खुशबू बनकर पूरी धरती पर बिखर जाने के ख्वाब साफ झलकते हैं।

इरोम शर्मिला का दोष बस इतना ही है कि उन्होंने दमन चक्र के सामने घुटने टेकने के बजाय संघर्ष का रास्ता चुना, उन्होंने हिंसा और निर्दयता के बजाय अमन और शान्ति की बात कही, उन्होंने शोषण और अत्याचार को अस्वीकार कर न्याय और मौलिक अधिकार के पक्ष में अपनी आवाज बुलन्द की।

इस सत्याग्रह की शुरुआत 1 नवम्बर सन् 2000 की उस नृशंस घटना के बाद हुई, जिसमें असम राइफल्स के जवानों ने इम्फाल घाटी के पास मालोम कस्बे के बस स्टेशन पर बस के इन्तजार में खड़े 10 मासूम और निर्दोष लोगों को गोलियों से भून दिया था। सेना की इस नृशंस और घृणित कार्रवाई ने इरोम शर्मिला को मजबूर कर दिया कि वे इसका प्रतिरोध करें। 4 नवम्बर को इरोम शर्मिला ने अपना सत्याग्रह शुरू किया। उनकी माँग थी कि सरकार राज्य में लागू दमनकारी कानून एएफएसपीए को समाप्त करे। यह कानून सेना, पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों को यह अधिकार देता है कि वे बिना किसी सबूत या वारण्ट के, केवल शक की बिनाह पर किसी भी नागरिक की गिरफ्तारी, पूछताछ या हत्या कर सकते हैं। इसी कानून के आधार पर 2004 में असम राइफल्स की हिरासत में मनोरमा देवी की मौत हो गयी थी। इरोम शर्मिला की भूख हड़ताल और इस घटना से सेना के विरुद्ध बढ़ते जनाक्रोश को देखते हुए तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री शिवराज पाटिल को मजबूरन मणिपुर के हालात का जायजा लेने के लिए वहाँ का दौरा करना पड़ा था।

इसी साल प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने यह उम्मीद जताई कि केन्द्र सरकार इस मुद्दे पर सहानुभूतिपूर्ण तरीके से विचार करेगी। इस संदर्भ में केन्द्र सरकार ने एक पाँच सदस्यीय आयोग का गठन किया था जिसके अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश वी. पी. जीवन रेड्डी थे। आयोग ने 147 पेज की अपनी रिपोर्ट में एएफएसपीए 1958 कानून को हटाये जाने की सिफारिश की थी। तत्कालीन रक्षा मंत्री प्रणव मुखर्जी ने इस सुझाव को यह कहते हुए खारिज कर दिया था कि किसी भी अशान्त इलाके में सेना के लिए ऐसे अधिकार के बिना काम करना असम्भव है।

इरोम शर्मिला की माँग बस इतनी ही हैं कि राज्यों को खुद अपना निर्णय लेने की आजादी हो। लोकतंत्र में सरकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह ऐसे किसी भी लोकतांत्रिक विरोध की आवाज सुने और समस्याओं का न्यायोचित समाधान करे। लेकिन भूख हड़ताल के तीसरे ही दिन उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनके ऊपर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 309 के तहत आत्महत्या के प्रयास का मुकदमा दर्ज किया गया। तब से लेकर आज तक इरोम शर्मिला का ज्यादातर समय या तो पुलिस हिरासत में गुजरा है या फिर अस्पताल में, लेकिन सेना-पुलिस का दमन भी मजबूत इरादों वाली इरोम शर्मिला को डिगा नहीं पाया। इरोम शर्मिला का सपना है कि वह शान्ति की खुशबू बनकर सारी दुनिया में फैल जाये।

6 अक्टूबर 2006 को आत्महत्या के प्रयास के जुर्म में आधी रात को पुलिस ने उन्हें फिर से गिरफ्तार कर लिया और उन्हें एम्स में भर्ती कराया गया। उन्होंने गृहमंत्री प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति को पत्र लिखकर उन्हें मणिपुर की स्थिति बतायी। लेकिन तीनों पत्रों का उन्हें कोई जवाब नहीं मिला, उनकी हालत को देखकर नोबेल पुरस्कार से सम्मानित मानवाधिकार कार्यकर्त्री शिरीन इबादी उनसे मिली। शिरीन ने इस मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद में उठाने का

वचन दिया और एएफएसपीए 1958 के विरुद्ध व्यापक जनसमर्थन जुटाने की भी घोषणा की। एक पत्रकार वार्ता में उन्होंने कहा कि "यदि शर्मिला की मौत हो जाती है तो इसके लिए सीधे-सीधे संसद जिम्मेदार है, अगर वह मरती है तो न्यायालय और न्यायपालिका इसके लिए जिम्मेदार है, सेना इसके लिए जिम्मेदार है... अगर वह मर जाती है तो अधिकारी, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति कुछ न करने के लिए जिम्मेदार हैं, तुममें से हर एक पत्रकार अपना कर्तव्य न निभाने के लिए जिम्मेदार है।"

दिल्ली में अपनी गिरफ्तारी से ठीक पहले 2006 में, राजघाट पर महात्मा गाँधी की समाधि पर फूल अर्पित करते हुए इरोम शर्मिला ने उन्हें अपनी जिन्दगी का आदर्श पुरुष माना था। पिछले वर्ष 2009 में महात्मा गाँधी की किताब 'हिन्द स्वराज' की शतवार्षिकी धूमधाम से मनायी गयी। पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर ढेरों सामग्रियाँ छपीं। सरकार ने ढेर सारी कार्यक्रम आयोजित किये। लेकिन इसे विडम्बना ही कहेंगे कि गाँधी के पथ पर चलने वाली ये वीरांगना अस्पताल के बिस्तर पर धीरे-धीरे मौत के करीब पहुँचती जा रही है। दूसरी तरफ राजकीय दमन चक्र दिनोंदिन तेज होता जा रहा है, सरकार छोटी से छोटी समस्या का समाधान भी बंदूक की नली में तलाश कर रही है, लोकतांत्रिक आन्दोलनों और मानवाधिकारों की आवाज को बंदूक के शोर में दबा दिया जा रहा है। गाँधीवाद और सत्याग्रह के जरिये किसी समस्या के समाधान का हर प्रयास निष्फल हो रहा है। सरकारी उपेक्षा, उद्धतता और दमन चक्र के चलते आज शान्तिपूर्ण और लोकतांत्रिक संघर्षों के जरिये अपने अधिकारों की हिफाजत की बात सोचना छलावा बनकर रह गया है।

इरोम शर्मिला असीम धैर्य और साहस के साथ अपना आंदोलन चला रही हैं। जब सन् 2000 में उन्होंने भूख हड़ताल शुरू की थी तो उनके अटूट इरादों पर बहुत थोड़े लोगों को विश्वास था। अधिकांश लोगों ने उनकी उपेक्षा की और उनके निर्णय को गम्भीरता से नहीं लिया, लेकिन इरोम शर्मिला के लिए यह उनकी जिन्दगी का निर्णायक फैसला था। वे एक पवित्र उद्देश्य के लिए एक कठिन और लम्बी यात्रा के लिए तैयार हो चुकी थीं।

आज इरोम शर्मिला पूर्वोत्तर राज्यों के संघर्ष की एक बुलन्द आवाज बन गयी हैं। इरोम के साथ देश भर की न्यायप्रिय जनता का नैतिक समर्थन है। इरोम शर्मिला का संघर्ष इस उम्मीद के साथ जारी है कि किसी अच्छे दिन संघर्ष की छोटी-छोटी धाराएँ विप्लव के महासागार का निर्माण करेंगी, इरोम शर्मिला के साहस को न्याय, समता और शान्ति चाहने वाली जनता अपना सलाम भेजती है। ❑

शान्ति की खुशबू

❑इरोम शर्मिला

जब जिन्दगी अपने अंतिम मुकाम पर पहुँच जाये
तुम, मेहरबानी करके ले जाना
मेरे बेजान शरीर को
फादर कोबरू की मिट्टी के करीब

मेरी लाश का बदला जाना
आग की लपटों के बीच अधजली लकड़ियों में
फावड़ें और कुल्हाड़ें से उसे टुकड़े-टुकड़े करना
मेरे मन को नफरत से भर देता है

बाहरी आवरण का सूख जाना लाजमी है
इसे जमीन के अंदर सड़ने दो
आने वाली नस्लों के लिए यह कुछ तो काम आये
इसे खदान की कच्ची धातु में बदल जाने दो

मैं शान्ति की खुशबू फैलाऊँगी
अपने जन्मस्थल, काँगली से
आने वाले युगों में
यह सारी दुनिया में फैल जायेगी।

❑

दिल्ली की नयी परिवहन व्यवस्था : एक समीक्षा

❑ज्ञानेन्द्र

आज दिल्ली महाद्वीप का सबसे प्रदूषित शहर बन चुका है। चौड़ीकरण या सौन्दर्यीकरण के नाम पर अधिकांश सड़कें खुदी पड़ी हैं। कहीं दैत्याकार फ्लाईओवर बनाये जा रहे हैं तो कहीं मेट्रो रेल के लिए आकाश में रास्ता। चारों और रास्तों में अवरोध खड़े हैं, धूल उड़ रही है। सैकड़ों ठेकेदार काम करवा रहे हैं, हजारों मजदूर गुलामों से भी बदतर हालात में इन विशालकाय निर्माण स्थलों पर दिन रात काम में जुते हैं। बड़े-बड़े बुलडोजर, क्रेनों और ट्रैफिक का शोरगुल आदमी को बहरा बना रहा है।

दिल्ली एक अत्याधुनिक शहर के रूप में उभर रही है– एक अन्तरराष्ट्रीय स्तर का शहर जहाँ सब कुछ यूरोप और अमरीका के स्तर का बनाने की कोशिश है। कहीं सुरंग तो कहीं आकाशमार्ग से दौड़ती वातानुकूलित मेट्रो रेल गाड़ियाँ अपने सवार को एक ऐसे मायालोक में ले जाती हैं जहाँ बैठकर वह खुद को स्वर्ग के राजा इन्द्र से कम नहीं समझता। जब वह देखता है कि यमुनापार करते समय वह उसके सड़ते पानी की बदबू से बच गया। कश्मीरी गेट से शाहदरा जाने के लिए उसे ठसाठस बस में हवा के एक झोंके के लिए नहीं तरसना पड़ा और सड़क पार करने के लिए तेज रफ्तार वाले वाहनों की अबाध धारा से जंग नहीं लड़नी पड़ी, तो उसे अपने इस स्वर्गोपम मेट्रो यात्रा की विलासिता पर गर्व होता है।

1990 का दशक आते-आते दिल्ली की सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था बुरी तरह संकटग्रस्त हो चुकी थी। दिल्ली में रोजगार और अच्छे अवसरों की तलाश में हर साल लाखों की तादाद में अपनी जमीन से उजड़े लोग आकर बस रहे थे जिसके चलते बसों में सवारियों की रेलमपेल मची रहती थी। बसों में यात्रा का कष्ट असहाय हो चला था। यही वह समय था जब सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था के निजीकरण की ओर कदम बढ़ाये गये और तरह-तरह की खूँखार निजी बसें भी दिल्ली की सड़कों पर दौड़ने लगीं। निजी स्तर पर समस्या के समाधान के लिए अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक लोगों ने स्कूटर/मोटरसाइकिल और कारें खरीदनी शुरू कर दीं। देश में चली वैश्वीकरण की बयार और उपभोक्तावाद के नये उभार ने इस प्रवृत्ति को और हवा दी। तात्कालिक तौर पर समस्या हल होती दिखी, पर जल्दी ही संकट और गहरा होकर सामने आया। सड़कों पर निजी वाहनों की भीड़ इतनी बढ़ गयी कि लम्बे-लम्बे जाम लगने लगे, थोड़ी दूर जाने के लिए जाम में घण्टों फँसे रहना पड़ता–ट्रैफिक का धुआँ और शोर अलग। निजी रेडलाइन बसें न सिर्फ असुविधा का पर्याय बन गयीं, बल्कि उन्होंने इतने लोगों को कुचला कि अन्ततः उनका रंग बदलना पड़ा।

मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।

और फिर शुरू हुआ मेट्रो, फ्लाईओवर बनाने और सड़कें चौड़ी करने का सिलसिला। इसे परिवहन की समस्या के हल के लिए रामबाण नुस्खे के तौर पर पेश किया गया, दिल्ली को बदल डालने के बड़े-बड़े वायदे किये गये, इन परियोजनाओं की प्रशंसा के इतने पुल बाँधे गये कि देखादेखी अब भारत के दूसरे शहरों में भी मेट्रो बनवाने की होड़ सी लग गयी है।

क्या एक गरीब देश में इस तरह अन्धाधुन्ध खर्च करके तैयार की जा रही ये सुविधाएँ सही ठहरायी जा सकती हैं?

मेट्रो प्रणाली सबसे पहले लन्दन, पेरिस, एम्सटर्डम और न्यूयार्क जैसे पुराने और उच्च आय वाले शहरों में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अस्तित्व में आयी थी। इन शहरों में आबादी का बसाव और व्यावसायिक गतिविधियों का विकास एक खास किस्म से हुआ था। शहर के केन्द्र में सभी व्यावसायिक गतिविधियाँ स्थित थीं इसलिए सभी इलाकों से लोग केन्द्र की ओर आते-जाते थे। इन शहरों के विकास की यह विशिष्टता मेट्रो व्यवस्था के अनुकूल थी जो सभी ओर से केन्द्र की ओर सवारियों को ढोती है।

दूसरे, उस समय तक कारें बाजार में नहीं आयी थीं इसलिए उच्चवर्ग के लोग भी मेट्रो में ही सफर करते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 1920 के दशक से कारें बाजार में आने लगीं, लेकिन 20वीं सदी के मध्य तक भी अधिकांश लोगों के पास कारें नहीं थीं। जो कारें थीं भी, उनमें आधुनिक कारों जैसे वातानुकूलित और स्टीरियो सिस्टम नहीं होने के कारण गर्मी से बचने के लिए खिड़की खोल कर सफर करना पड़ता था जिसके चलते ट्रैफिक का धुआँ और शोर सताता रहता था। 1970 तक इन शहरों में अधिकांश परिवारों के पास आधुनिक कारें नहीं थी, इसलिए मेट्रो ज्यादा सुविधाजनक विकल्प था।

इस तरह इन शहरों में मेट्रो प्रणाली की कामयाबी की दो प्रमुख वजहें थीं– शहरों के विकास का केन्द्रीकृत स्वरूप और बाजार में सुविधाजनक आधुनिक कारों का मौजूद न होना।

लेकिन हमारे देश में स्थिति एकदम भिन्न है।

यूरोप और अमरीका के ये शहर व्यापारिक पूँजीवादी और औद्योगिक क्रान्ति के काल में विकसित हुए और उपनिवेशों की लूट

से धनी बने, जबकि हमारे देश में ऐसा नहीं हुआ। हमारे देश में शहरीकरण 1960 के दशक से तेज हुआ है। अधिकांश लोग या तो गाँव की कठिन जिन्दगी से निजात पाने के लिए या फिर जातीय शोषण और उत्पीड़न से बचने या रोजगार के अवसरों की तलाश में शहर आये और बसे।

दिल्ली में 1500 ऐसी कालोनियाँ हैं जहाँ ऐसे लोगों की आबादी बहुत घनी है। दिल्ली में उपलब्ध 60 प्रतिशत रोजगार अनौपचारिक क्षेत्र में हैं और मुख्यतः विस्थापित लोग ही अनौपचारिक क्षेत्र के रोजगारों- रिक्शा चलाने और सब्जी बेचने से लेकर तरह-तरह के छोटे-मोटे कामों में लगे हैं। ये मेट्रो या बसों में सफर तभी कर सकते हैं जब अपनी आधी आमदनी दैनिक यात्रा पर खर्च करने के लिए तैयार हों। जाहिर है इन लोगों की आमदनी इतनी नहीं है कि वे महँगे किराये देकर मेट्रो में सफर कर सकें या बसों में ही जा पायें। इसलिए इनमें से अधिकांश लोग पैदल या साइकिल से ही काम पर जाते हैं। व्यस्ततम घण्टों में भारत के शहरों में सड़कों पर पैदल या साइकिल से यात्रा करने वालों का प्रतिशत कुल यात्रियों के 30 प्रतिशत से लेकर 70 प्रतिशत तक होता है। छोटे शहरों में तो यह अनुपात और भी ज्यादा है।

इस तरह दिल्ली और दूसरे भारतीय शहरों की पहली विशेषता है निम्न आय वर्ग के लोगों की अधिकता और उनके बसने का यूरोपीय शहरों से भिन्न स्वरूप। इन शहरों में व्यावसायिक गतिविधियाँ एक जगह केन्द्रित नहीं हैं, बल्कि पूरे शहर में जगह-जगह केन्द्रित हैं या अनौपचारिक क्षेत्र के रूप में बिखरी हुई हैं। ये दोनों ही बातें मेट्रो ट्रेन की व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं जो बाहरी इलाकों से केन्द्र की ओर सवारियाँ लाती है। मेट्रो आस-पास के इलाकों में जाने वाली सवारियों के लिए नहीं बनी है।

अब दिल्ली के उच्च आय वर्ग को लें। इस वर्ग के विकसित होने के साथ बाजार में तरह-तरह की आधुनिक कारें और मोटरसाइकिलें भी पहुँच गयीं। आज भारत में कई वातानुकूलित गाड़ियाँ, स्टीरियो सिस्टम के साथ लगभग 3 लाख रुपये में और नैनो आने के बाद डेढ़ लाख रुपये में उपलब्ध हैं। सेकेण्ड हैण्ड कारें तो और भी कम दाम पर मिल जाती हैं। मोटरसाइकिलें और भी सस्ती हैं और ओवरटेकिंग में आसानी, ईंधन की कम लागत और पार्किंग में आसानी के कारण मध्यवर्ग में इनका चलन तेजी से बढ़ा है। इस तरह भारत के मध्यवर्ग को वह आरामदेह सफर आसानी से उपलब्ध है जो यूरोप में उच्च वर्ग को भी बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक उपलब्ध नहीं था। इसलिए सार्वजनिक बसों में धक्के खाने या मेट्रो स्टेशन तक आने-जाने के लिए गर्मी और प्रदूषण झेलते हुए पैदल चलने के बजाय इस वर्ग के लोग अपनी वातानुकूलित कारों में मधुर संगीत सुनते हुए या मोटरसाइकिल पर सुविधानुसार यात्रा करते हुए चलना पसन्द करते हैं, भले ही उन्हें जाम में फँसना पड़े।

मेट्रो की क्षमता 60 हजार सवारी प्रति घण्टा प्रति दिशा में ले जाने की है, लेकिन ऊपर जिन कारणों की चर्चा की गयी है उनकी वजह से बहुत कम लोग ही मेट्रो का प्रयोग करना पसंद करते हैं। गरीब आदमी आर्थिक तंगी के चलते नहीं जा पाता तो अमीर अपनी सुख सुविधाएँ छोड़कर नहीं जाना चाहता। फिर वह अगल-बगल की सवारियों के लिए उपयुक्त भी नहीं है। इसलिए दिसम्बर 2005 में पूरे हुए मेट्रो के पहले चरण में 22 लाख सवारी प्रतिदिन के दावे के विपरीत केवल 4 लाख सवारियाँ ही आयीं।

दिल्ली की मेट्रो अपनी क्षमता से बहुत कम पर चलायी जा रही है। मेट्रो के निर्माण पर प्रति किलोमीटर 200-300 करोड़ रुपये का खर्च आता है। इस भारी खर्च को तभी न्यायसंगत ठहराया जा सकता है जब मेट्रो अपनी पूरी क्षमता पर चले। अन्यथा इसके विकल्पों पर विचार किया जाना चाहिए था। एक किलोमीटर मेट्रो मार्ग बनाने में जितना खर्च आता है उतने खर्च में 30-50 किलोमीटर अच्छी सड़कें बनायी जा सकती थीं और उन पर आधुनिकतम बसें चलायी जा सकती थीं। 256 किलोमीटर मेट्रो मार्ग बनाने के बदले दिल्ली में सार्वजनिक बसों की पर्याप्त व्यवस्था करने पर 20 गुना कम खर्च आता। यह दिल्ली (और भारत के अन्य शहरों) के लिए बेहतर और बहुत सस्ता विकल्प होता क्योंकि बसों के रूट मेट्रो से ज्यादा लचीले होते हैं, वे कहीं से कहीं के लिए चलायी जा सकती हैं, मेट्रो की तरह केवल केन्द्र से परिधि की ओर नहीं साथ ही बसे अपनी सवारियों को उनके गन्तव्य के ज्यादा करीब छोड़ती हैं।

दिल्ली में 42 फ्लाईओवर बन रहे हैं। इनके निर्माण पर होने वाले खर्च का अन्दाजा महज दो फ्लाईओवरों एम्स और धौला कुआँ पर हुए कुल 150 करोड़ के खर्च से लगाया जा सकता है। फ्लाईओवर 3 या 5 सड़कों वाले चौराहों के लिए उपयुक्त नहीं होते। फ्लाईओवर का निर्माण न केवल बेहद खर्चीला है, बल्कि पर्यावरण को बेहद नुकसान पहुँचाता है। कंक्रीट के दैत्याकार फ्लाईओवर दिन भर गर्मी सोखते हैं, उनके ऊपर चढ़ने वाले वाहन भी ज्यादा ईंधन खाते हैं और ज्यादा धुआँ छोड़ते हैं– इससे शहरों का पर्यावरण बेहद गर्म और प्रदूषित हो जाता है। विषैली गैसों का उत्सर्जन भी फ्लाईओवर, अण्डरपास और मेट्रो सुरंगों में ही सबसे ज्यादा पाया जाता है।

फ्लाईओवर के निर्माण से जहाँ कारों और अन्य द्रुतगति वाहनों का प्रवाह अबाध हो जाता है। वहीं पैदल और साइकिल सवारों की परेशानियाँ बढ़ जाती हैं। सड़क की दूसरी दिशा में जाकर बस पकड़ने के लिए अब उन्हें पहले की तुलना में 1 किलो मीटर तक ज्यादा दूरी तय करनी पड़ती हैं, क्योंकि बस स्टाप खिसका दिये जाते हैं। सड़क पार करने के लिए उन्हें तेज रफ्तार वाहनों के बीच से रास्ता बनाना पड़ता है जो महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों और अपंग लोगों के लिए बेहद खतरे वाला काम होता है। इस तरह फ्लाईओवर

के निर्माण से पैदल यात्रियों, साइकिल सवारों और सार्वजनिक बसों में सफर करने वाली 80 प्रतिशत सवारियों को परेशानी उठानी पड़ती है। दूसरे शब्दों में यह कार और मोटरसाइकिल के प्रयोग को उकसाता है।

फ्लाईओवर से ट्रैफिक जाम की समस्या का टिकाऊ हल नहीं निकलता और कुछ समय बाद फिर से वैसे ही जाम लगने लगते हैं। फ्लाईओवर का डिजाइन तैयार करते समय सबसे भारी वाहनों को ध्यान में रखा जाता है जो उस पर आने वाले कुल ट्रैफिक का केवल 10 प्रतिशत होते हैं। इसलिए इतने विराट और खर्चीले फ्लाईओवर बनाने की जरूरत पड़ती है।

आईआईटी के प्रोफेसर दिनेश मोहन के मुताबिक, "यूरोप और अमरीका में कंक्रीट के इन दैत्यों से पीछा छुड़ाने की कोशिशें चल रही हैं और 16 सालों से कोई नया फ्लाईओवर नहीं बनाया गया है। लेकिन न जाने क्यों हमारी सरकार इनके निर्माण पर इतना जोर दे रही है।"

विकल्प के तौर पर, आईआईटी के प्रोफेसरों ने एक बहुत सस्ता, सुन्दर और मानव केन्द्रित डिजाइन सुझाया था जिसमें पूरे ट्रैफिक को तीन हिस्सों में– पैदल और साइकिल-रिक्शा जैसे वाहन, कारें और मोटर साइकिलें और भारी वाहन– में बाँटकर तीन अलग-अलग स्तरों क्रमशः जमीन, जमीन से 2-2.5 मीटर नीचे और जमीन से 3.5 मीटर ऊपर बने गोल चक्करों से होकर निकाला गया था। इस डिजाइन में फ्लाईओवर की अपेक्षा आधे से भी कम खर्च आता और बस स्टाप से बस बदलने के लिए 100 मीटर से ज्यादा दूरी नहीं तय करनी पड़ती, गोलचक्कर के बीच में पेड़ लगाकर चौराहे की सुन्दरता भी बढ़ायी जा सकती थी। लेकिन इस डिजाइन की जगह लार्सन एण्ड टुब्रो और गेम्मन इंडिया जैसी बड़ी कंस्ट्रक्शन कम्पनियों के डिजाइन को तरजीह दिया गया। आईआईटी के प्रोफेसरों द्वारा सुझाये गये डिजाइन ताक पर रख दिये गये।

स्पष्ट है कि देश की गरीब जनता का अरबों रुपया मेट्रो और फ्लाईओवरों के एक ऐसे मायाजाल को रचने में लगाया जा रहा है जिसने आम आदमी की यात्रा को और ज्यादा कष्टप्रद और असुरक्षित बना दिया है। मेट्रो बनाने के दौरान बहुत से गरीब परिवारों को विस्थापित होना पड़ा जिससे उनमें से 80 प्रतिशत से भी ज्यादा परिवारों की काम की दूरी और यात्रा का समय बढ़ गया। मेट्रो बनने से उनमें से अधिकांश की आय में कमी आयी है। इस तरह से देखें तो इस वर्ग को मेट्रो के कोई अप्रत्यक्ष लाभ भी नहीं हुए हैं।

दिल्ली में पैदल, साइकिल या रिक्शा और बस से यात्रा करने वाले 70 प्रतिशत से ज्यादा नागरिकों को नजरअन्दाज करके, सिर्फ 20-25 प्रतिशत कार ट्रैफिक के हिसाब से एक नयी परिवहन व्यवस्था तैयार की जा रही है। उनकी यात्रा को और ज्यादा कष्टपूर्ण और ज्यादा लम्बी बनाकर कारों को सुविधा दी जा रही है। उनके समय की कीमत पर कार वालों का समय बचाया जा रहा है। उनकी जान की कीमत पर कार वालों की यात्रा को सुरक्षित बनाया जा रहा है। उनकी रफ्तार छीनकर कारवालों की रफ्तार बढ़ायी जा रही है।

पैदल और साइकिल के लिए न तो अलग लेन बनाये जा रहे हैं और न ही सड़क किनारे फुटपाथ बने हैं। इसके चलते पैदल और साइकिल वालों को किनारे की लेन में बसों और मोटरसाइकिलों से जूझते हुए हर पल मौत का सामना करते हुए चलना पड़ता है। सड़क पार करने की समुचित व्यवस्था भी नहीं की गयी है। ऐसे में बस स्टॉप के नजदीक किसी बदमिजाज और लालची निजी बस चालक द्वारा सवारी उठाने की हड़बड़ी में उनके कुचले जाने की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। यही वजह है कि दिल्ली में होने वाली सड़क दुर्घटनाओं में मरने वालों में साइकिल सवार और पैदल लोगों की संख्या 70 प्रतिशत से भी ज्यादा है।

सड़क पर चलने वाली इतनी बड़ी संख्या को नजरन्दाज करके बनायी गयी कोई भी परिवहन व्यवस्था क्या कभी सफल हो सकती है?

लेकिन हमारे नेताओं और नौकरशाहों की नजर में आम इन्सान की कोई कीमत नहीं है। उनकी नजरें लंदन, पेरिस और न्यूयार्क पर हैं। जहाँ वे सैर सपाटा करने जाते हैं। विदेशों में पढ़ने वाली उनकी औलादों और देश के उच्च-मध्यवर्ग, ठेकेदारों, कंस्ट्रक्शन के मैनेजरों, इंजीनियरों और डिजाइनरों का, जो आँख मूँदकर विदेशों की नकल करने में लगे हैं, हमारे देश की जनता की तकलीफों से अब कोई वास्ता नहीं रह गया है। अपने मुनाफे, काली कमाई और एशो-आराम के लिए वे देश की गरीब जनता के पैसे को बरबाद कर रहे हैं और उनकी जिन्दगी में जहर घोल रहे हैं। वे मिस्र के उन शासकों से कम नहीं जिन्होंने अपनी लाशें सुरक्षित रखने के लिए हजारों गुलामों से भव्य पिरामिडों का निर्माण करवाया। वे हमारे देश के उन सम्राटों जैसे हैं जिन्होंने गरीब किसानों को लूटकर हजारों गुलामों पर अत्याचार करके अपनी वैभव और विलासिता की खातिर विशाल मन्दिरों और आलीशान किलों का निर्माण करवाया– देश की जनता के दुख-दर्द और उसकी तकलीफों के प्रति वर्तमान सत्ताधारी भी उतने ही संवेदनहीन हैं।

सड़क पर घूमते-फिरते इन्सानों वाले सुन्दर, हरे-भरे और मानवीय शहर की जगह दिल्ली कंक्रीट के एक विशाल पिरामिड में तब्दील हो रही है जिसके पीछे लाखों मजदूरों, विस्थापितों और गरीब जनता की आहें छिपी हैं। यहाँ इन्सान नहीं सिर्फ ताबूतों में बन्द ममी रह सकती हैं। यही है इस मायानगरी का यथार्थ जिसकी सच्चाई धीरे-धीरे सबके सामने बेपर्दा होती जा रही है।

❑

कमरतोड़ महँगाई और जनता की खामोशी

❑एम. रंजन

महँगाई का जो घोड़ा 1990 के दशक में दुलकी चाल चल रहा था, आज बेलगाम सरपट दौड़ रहा है। गरीब आदमी ही नहीं, बल्कि मध्य वर्ग का एक बड़ा हिस्सा भी इसी मार से त्रस्त है। स्थिति भयावह है, लेकिन इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। विगत दो दशकों से देश में जो आर्थिक नीतियाँ लागू की जा रहीं हैं, उनका परिणाम यही होना था। आज चिन्ता की बात यह है कि इतनी विकट स्थिति कि बावजूद समाज में महँगाई के प्रति इतनी ठण्डी तटस्थता और उदासीनता क्यों व्याप्त है। इनके कारणों की पड़ताल जरूरी है।

1970 के दशक में हेनरी किसिंजर ने कहा था कि तेल को नियन्त्रित करो और राष्ट्रों को नियंत्रित करो। खाद्यान्न को नियंत्रित करो और जनता को नियंत्रित करो। 1974 में उसने एक गोपनीय प्रोजेक्ट 'नेशनल सेक्योरिटी में मेमोरेंडम 200' में दुनिया की आबादी को नियंत्रित करने के लिए 'वर्ल्ड पॉपुलेशन प्लान फॉर एक्शन' बनाया। इसका स्पष्ट अर्थ था– खाद्यान्न को नियन्त्रित कर हथियार के रूप में इस्तेमाल करना, परम्परागत खेती को नष्ट करके कृषि व्यापार द्वारा वैश्वीकृत खाद्यान्न बाजार तैयार करना और इसे मुक्त व्यापार प्रणाली के अधीन लाना। गौरतलब है कि इसी वर्ष विश्व खाद्य सम्मेलन का आयोजन हुआ था।

मौजूदा महँगाई की जड़ मुक्त व्यापार प्रणाली में निहित है। पश्चिमी जगत में अनाज का मुक्त व्यापार विगत आधी सदी से लागू किया जा रहा था जिसे 1987 में गैट के उरूग्वे दौर की वार्ता में डंकल प्रस्ताव के रूप में दुनिया के सामने पेश किया गया और 1994 में हुए गैट समझौते और 1995 में स्थापित विश्व व्यापार संगठन के साथ इसे लागू किया गया। इसके साथ ही खाद्यान्न से मुनाफा बटोरने का जरिया और गरीब मुल्कों के ऊपर साम्राज्यवादी आर्थिक-राजनीतिक वर्चस्व का औजार बना दिया गया। सीआईए की एक गोपनीय रिपोर्ट के मुताबिक अन्न की भारी कमी 'वाशिंगटन को... जरूरतमंद लाखों करोड़ों बेबस आबादी के भाग्य का फैसला करने, उनको जिन्दा रखने या मारने की लगभग पूरी शक्ति देती है।'

स्थिति यह है कि आज अनाज उत्पादन और आपूर्ति का बड़े पैमाने पर केन्द्रीयकरण हो चुका है। वैश्विक स्तर पर कारगिल, मोंसेन्टो, बंगे जैसी छः दैत्याकार कम्पनियों का दुनिया के अनाज व्यापार के 85 फीसदी हिस्से पर कब्जा है। विशालकाय एग्रो बिजनेस के शहंशाह भोजन से लेकर अनाज की खेती उसकी प्रोसेसिंग और शोध तक को पूरी तरह नियन्त्रित कर रहे हैं। वे योजनाबद्ध तरीके से किसानों को जैव ईंधन जैसी खेती की ओर ढकेल रहे हैं और अनाज उत्पादन को जानबूझ कर कम करने के लिए प्रयासरत हैं।

आज बीज, खाद, कीटनाशक से लेकर फसलों की खरीद-बिक्री तक हर कहीं दैत्याकार एग्रो बिजनेस कम्पनियाँ और खुदरा व्यापार में लगे निगमों का एकाधिकार कायम हो चुका है। इसके साथ ही वायदा कारोबार में लगे सट्टेबाजों के लिए भी कृषि उपज मुनाफे का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन चुका है। 'फारवर्ड मार्केटिंग कमीशन' की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में पिछले 1 अप्रैल से 10 जून के बीच लगभग 16,00,000 करोड़ रुपये का वायदा कारोबार हुआ, जो 2008 में इसी अवधि में हुए लगभग 11,00,000 करोड़ के वायदा कारोबार का लगभग डेढ़ गुना हैं। सट्टेबाजी के इस नये क्षेत्र में विस्तार का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि महज दो वर्ष के भीतर इसमें 7 गुने की वृद्धि हुई है।

वर्तमान कमर तोड़ती महँगाई का स्रोत यही है। इसके विपरीत सरकार और उसकी भोपू मीडिया कभी बढ़ती जनसंख्या का ढिंढोरा पीटती है, कभी जमाखोरी का रोना रोती है, कभी गरीब मुल्क की जनता और उसकी पहलकदमी के अभाव को इसके लिए जिम्मेदार बताती है तो कभी जलवायु या मौसम के प्रकोप पर दोष मढ़ती है। वे यह नहीं बताते कि आज भी पूरी दुनिया में 2800 कैलोरी प्रति व्यक्ति अनाज उपलब्ध होने के बावजूद दुनिया के 85 करोड़ लोग भूखे व कुपोषित क्यों है! उनका प्रचार तंत्र पूरी सच्चाई को छुपाने कि लिए झूठ का गर्दो गुबार खड़ा करती है। सच यह है कि जनता क्या खाए, क्या पहने, क्या सोचे सबका संचालन बाजार की शक्तियों के हाथों में है।

महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि इतनी विकट स्थितियों के बावजूद 'न होना तड़प का, सब कुछ सहन कर जाना' वाली हालत क्यों है? यह एक सुनियोजित साजिश है। इसकी मूल वजह वैश्विक लूट की शक्तियों द्वारा जनता के मन मस्तिष्क को अपने नियन्त्रण में करने की वह तकनीक है जिसे एक प्रक्रिया में उसने विकसित किया है। बहुसंख्य जनता के निष्क्रिय बने रहने के तमाम कारणों में यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जिस पर सोचा जाना चाहिए।

दरअसल, दुनिया पर राज करने के लिए पूँजीवादी आकाओं ने शिक्षा व संस्कृति को अपना महत्त्वपूर्ण हथियार बनाया था। इसका उदाहरण है हमारे देश में लार्ड मैकाले की शिक्षा प्रणाली जिसका उद्देश्य लम्बे दौर के लिए मानसिक गुलामों की पीढ़ी तैयार करना था। बाद के दौर में अमरीकी थिंक टैंकों ने बाकायदा सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करने, विचारों को नियंत्रित करने, बाजारवाद की संस्कृति को एक मूल्य के तौर पर स्थापित करने और सार्वजनिक हित के ऊपर व्यक्तिगत हित को स्थापित करने की मुहिम चलाई। इसके लिए पिछड़े समाजों में मौजूद सामन्ती मूल्यों का भी उन्होंने भरपूर फायदा उठाया जिससे दब्बू और हुक्म के गुलाम इंसानों को तैयार करके अपनी सेवा में लगाना आसान हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब दुनिया का शक्ति सन्तुलन जनगण के अनुकूल होने लगा, एक के बाद एक औपनिवेशिक गुलामी की बेड़ियाँ टूटने लगीं, तीसरी दुनिया के गुलाम, मुल्क आजाद होने लगे तो साम्राज्यवादियों की चिंता बढ़ने लगी। उनके बाजार और कच्चे माल स्रोत सिकुड़ने लगे। ऐसे में दुनियाभर के पूँजीवादी शासकों ने अपने नये चौधरी अमरीका के नेतृत्व में फिर से निजी उद्यम व मुक्त व्यापार का वर्चस्व कायम करने के लिए एक नयी तकनीक का विकास किया जिसका उद्देश्य आम जनता की सोच व चेतना को भटकाना था। उनकी यह मंशा अमरीकी थिंक टैंक बर्नेस की पुस्तक प्रोपेगैण्डा में साफ-साफ दिखाई देती है—" जनसाधारण की व्यवस्थित परंपरागत आदतों ओर विचारों में हेरा-फेरी करके उनका बदलना जनतांत्रिक समाज का मुख्य कार्यभार है... ऐसे साधन जिनसे जनता के दिमाग को कुशलतापूर्वक अनुशासित किया जा सकता है। बिलकुल वैसे ही जैसे कि फौज में जवानों के शरीर को जंग लड़ने के लिए अनुशासित किया जाता है।"

जनमानस पर नियन्त्रण के लिए अमेरीकी थिंक टैंक ने सचेतन रूप से प्रोपेगैण्डा को अपना हथियार बनाया और इसे एक खूबसूरत नाम दिया— जनसम्पर्क (पब्लिक रिलेसंस)। उसने एक विशालकाय जनसम्पर्क उद्योग स्थापित किया। इसमें आम जनता के बीच पैठ बनाने वाले संचार तंत्र की पूरी शृंखला शामिल है। मनोरंजन उद्योग, टेलीविजन, स्कूलों की पाठ्य पुस्तकें, अखबार, तरह-तरह के विज्ञापन, कम्प्यूटर, मोबाइल, इण्टरनेट, खेलकूद व प्रतियोगिताएँ आदि का बहुलांश इसी जन सम्पर्क उद्योग का हिस्सा है। 1920 में अमरीका में स्थापित इस उद्योग की शाखाएँ आज पूरी दुनिया में फैल चुकी हैं और मुक्त व्यापार के बेरोकटोक विस्तार में सहायक भूमिका निभा रही हैं।

इस पूरे कृत्य के लिए मनोवैज्ञानिक कौशल का जबरदस्त इस्तेमाल होता है। तरह-तरह के दिमागी खेलों का सृजन, दृश्य-श्रव्य माध्यमों का इस्तेमाल, फिल्मों, टी.वी. धारावाहिल जनता' को कार्टून फिल्मों, समाचार माध्यमों, मोबाइल संदेशों, इण्टरनेट की आत्मा खेलकूद संघो, धार्मिक स्थलों आदि विविध माध्यमों से जन-जन की पूरी चिन्तन प्रक्रिया को बदलने की सतत् प्रक्रिया जारी है। इससे जनता में, विशेष रूप से नयी पीढ़ी में चरम स्वार्थ, पड़ोसी से नफरत करना किसी भी असफलता के लिए खुद को दोष देना, येन-केन-प्रकारेण धन कमाने की लालसा, विकृत चीजों के प्रति आकर्षण और समाज को पीछे ले जाने वाली चीजों की ओर आँख मूँद कर भागने की प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। एक तरफ मुक्त व्यापार की मोहक तस्वीर बनाने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर जनता द्वारा गलत का विरोध करने की सोच को भोथरा करने की कोशिश की गयी। यह यूँ ही नहीं है कि अर्थव्यवस्था के हर छः डॉलर में से एक डॉलर मार्केटिंग पर खर्च होता है। यह हेरा-फेरी व छल कपट का बड़ा धंधा है जो हर चीज के बारे में एक सोच और उसकी गैर जरूरी माँग पैदा करता है। इसके अलावा कारखानों-विभागों, स्कूल-कॉलेज-विश्वविद्यालय स्तर से लेकर तरह-तरह के प्रशिक्षण कार्यक्रमों पर अरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। अमरीका प्रायोजित 'सहभागी प्रशिक्षण कार्यक्रम ' 'यूएस सहायता' (यूएस एड) कार्यक्रम' जैसे प्रशिक्षणों के माध्यम से तीसरी दुनिया के गरीब मुल्कों में पश्चिमी विचारों से ओत-प्रोत अपने समर्थकों-अनुयायियों की पूरी फौज तैयार की गई है। ऑक्सफेम, रॉकफेलर, फोर्ड जैसी दुनिया की साम्राज्यवादी दानदाता कम्पनियाँ गैर सरकारी संगठनों के लिए धन वर्षा कर रही हैं जो लोगों को भरमाने व भटकाने का कार्य लगातार जारी रखे हुए हैं।

इन तमाम तौर-तरीकों से वैश्विक लूट की शक्तियों ने जनता के दिमाग को काबू रखने का जो सफल उद्यम किया है उसने भूख के विरुद्ध संघर्ष के बदले बाजार के प्रति अन्धभक्ति को ही बढ़ाया है। आज मानवीय संवेदनाओं को स्थान बाजारवाद की घृणित प्रवृत्तियों ने ले लिया है, प्रतिरोध के स्वर की जगह याचना और अनुनय-विनय ने ले ली है।

निश्चित रूप से महँगाई की मार भयावह है, लेकिन उससे कहीं खतरनाक और चिन्तनीय विषय है इन विकटतम स्थितियों के प्रति जनता की खामोशी, उदासीनता और अकर्मण्यता जो इस यथास्थिति को बनाये रखने में सहायक है। इस परिस्थिति को बदलना मुश्किल नहीं, जरूरत इस बात की है कि हम अपनी जड़ता तोड़े, छोटे-छोटे स्तर पर विचार-विमर्श, बहस-मुबाहिसा, वैचारिक गतिविधियों और जन अभियानों का अटूट सिलसिला शुरू करें। हमारी सबसे बड़ी ताकत यह है कि हमारा पक्ष सही और सच्चा है जबकि दुनिया भर के शोषक झूठ की बुनियाद पर टिके हैं। ❑

निष्क्रिय बनाती मीडिया

विचार नियंत्रण का जबर्दस्त खेल

□मुकुल

मैं एक परिचित के घर बैठा था। इसी बीच अंकल जी भी पहुँच गये। शायद बाजार से लौटे थे। गुस्से में तमतमाए अंकल ने लगभग चीखना शुरू कर दिया– "आग लग गयी है बाजार में, महँगाई नहीं यह तो सीधे डकैती है... गोली मार देनी चाहिए नेताओं को... कोई कुछ नहीं बोलता... आज फिर भगतसिंह चाहिए जो संसद में बम फेंके, बहरे कान तब सुनेंगे...." वगैरह, वगैरह। फिर वे धम्म से सोफे पर बैठ गये। रिमोट उठाया, टीवी चालू कर दिया और रियॉल्टी शो के कार्यक्रम में खो गये। धीरे-धीरे नाराजगी काफूर होती गयी।

यथास्थिति बरकरार थी। महँगाई से पैदा तात्कालिक गुस्से पर मनोरंजन की ठंडई का असर हो चुका था। बरबस ही एक अमरीकी प्रसारण के इतिहासकार 'एरिक बरनू' की बात याद आ गई- "लोकप्रिय मनोरंजन बुनियादी तौर पर यथास्थिति के पक्ष में किया गया प्रचार है।"

उपर्युक्त घटना 'विचार नियंत्रण' की असरदार प्रणाली का एक उदाहरण। इस फंदे में बुरी तरह फँसी हुई है भारी आबादी। उसके सामने चुनने की आज़ादी है, चुन ले - सास-बहू के झगड़े या स्वयंवर का तड़का, जासूसी मारधाड़, पुनर्जन्म या काल-कपाल, सानिया-शोएब की शादी, आईपीएल का धमाल या फिर साँस लेने वाला जूता, अनलिमिटेड टॉक टाईम वाले सिम का लफड़ा, ईर्ष्यालू बनाता साबुन, सुपरमैन बनाता कोल्डड्रिंक। ऊपर से तुर्रा यह कि 'जनता की यही पसन्द है।' भ्रम ऐसा कि मायाजाल में फँसे दर्शक को यह विश्वास हो जाये कि यही स्वाभाविक और अपरिहार्य है।

लगभग दो दशक पूर्व, जब देश में इलेक्ट्रानिक मीडिया - खासकर निजी चैनलों की पैठ बन ही रही थी, तब दूरदर्शन पर अपवाद स्वरूप प्रदर्शित 'कबीर' सीरियल बहुत लोकप्रिय होने लगा। बामुश्किल तेरह कड़ियाँ पूरी होते-होते इसे बन्द कर दिया गया। तबसे सैकड़ों चैनल खुल गये, परन्तु 'साधो ये मुर्दों का गाँव' वाला यह या ऐसा सीरियल देखने को नहीं मिला। क्या यह सुनियोजित साजिश नहीं थी?

दरअसल, आज संचार माध्यम दैत्याकार उद्योग का रूप ले चुके हैं, जो विचारों से परिपूर्ण आमोद-प्रमोद व मनोरंजन की पूरी झड़ी लगा देते हैं। और इस काम में लगे हुए हैं लोकप्रिय संस्कृति के सभी नए-पुराने रूप– टीवी, और रेडियो शो, एनिमेटेड कार्टून, फिल्में, कॉमिक पुस्तकें, बड़े पैमाने पर होने वाले खेल, समाचार पत्र, और पत्रिकाएं, मोबाइल, नेटवर्क सर्चिंग आदि जहाँ सुनियोजित तरीके से सामाजिक यथार्थ और अन्तरविरोध गायब रहते हैं। यह यूँ ही नहीं है कि सूचना-समाचार पर दुनिया की पाँच बड़ी एजेन्सियों का कब्जा है। वैश्विक लूट की शक्तियों ने एक ऐसा तंत्र बना रखा है, जो जनता के दिमाग को एक मिनट भी सोचने नहीं देती।

जहाँ तक समाचार माध्यमों की बात है, यथार्थपरक या जनपक्षधर खबरें सिरे से गायब मिलेंगी। महँगाई, आत्महत्यायें, सुन्दरीकरण के नाम पर लाखों लोगों को उजाड़ा जाना, शोषण-उत्पीड़न आदि समाचारों से पूरी तरह गायब हैं, जबकि दुनिया के अरबपतियों की सूची में शामिल धनाढ्यों या विश्वसुन्दरियों के तमाशों और क्रिकेटरों की खबरें टीवी-अखबार की सुर्खियों में रहती हैं। दिल्ली में अरबों रुपये खर्च करके होने वाले राष्ट्रमण्डल खेल की तैयारियाँ छायी रहेंगी, लेकिन इसकी कीमत चुकाने वाली दिल्ली से उजाड़ी गयी लाखों झुग्गी-झोपड़ियाँ, गुलामों से भी बदतर स्थिति में खट रहे मजदूर और गरीब जनता खबरों से बाहर होंगी। वैश्विक मंचों पर भारत के कथित विरोध को मीडिया खूब उछालेगा, लेकिन देश की जनता के हितों को तिलांजलि देकर शोषकों के समर्पण पर मौन साध लेगा। कहीं कुछ आ गया तो भीतरी पन्नों में छिपा हुआ होगा या फिर सम्मोहक विज्ञापनों के धुँधलके में खो-सा गया होगा। प्रत्येक चैनल में विज्ञापन का बलात प्रवेश प्रस्तुत की जा रही किसी घटना, प्रसंग, मुद्दे या विषय को सम्पूर्णता में ग्रहण कर पाने की दर्शकों-पाठकों की न्यूनतम क्षमता को और कम कर देता है।

इन दिनों खूब शोर मचाया जा रहा है कि 'सूचना क्रान्ति' के इस दौर में सूचनाओं की बरसात हो रही है, लोगों की समाचार तक पहुँच ज्यादा बनी है। सच यह है कि वास्तविक समाचार एकाधिकारी निगमों के 'ब्लैक होल' में समा जा रहे हैं। एक उदाहरण गौरतलब है। उत्तराखण्ड में सिडकुल के तहत ढेरों कारखाने लगे और लग रहे हैं, जहाँ भारी सब्सिडी, कौड़ियों के मोल जमीनें, केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा टैक्सों में भारी रियायतें आदि दी गयीं। इस वर्ष मार्च में महज केन्द्र सरकार द्वारा दी गयी सात वर्षीय टैक्स छूट की

अवधि समाप्त हो गयी। इस मुद्दे पर पिछले तीन-चार महीने से मीडिया खूब शोर मचाता रहा– टैक्स छूट की अवधि नहीं बढ़ी तो कारखानों को नुकसान होगा, वे कारोबार समेटने को मजबूर होंगे- आदि-आदि। लेकिन मीडिया इस मुद्दे पर मौन है कि विगत सात वर्षों से मालिकों ने कितना मुनाफा बटोरा और मजदूर किस दुर्दशा व बदहाली के शिकार रहे। श्रम कानूनों को लागू करने, ढाई-तीन हजार की मामूली पगार पर 12-12 घण्टे खटने या गैरकानूनी ठेकेदारी प्रथा के वर्चस्व, इन अत्याधुनिक कारखानों में बेहद अमानवीय परिस्थितियों की खबरें तो दूर, यहाँ आये दिन मजदूरों का मशीनों की चपेट में आकर घायल होने या अकाल मौत के मुँह में समा जाने और बगैर मुआवजे के उन्हें निकाल बाहर की खबरें भी सुर्खियों से गायब रहती हैं। असल में मीडिया जितना ग्लोबल हुआ है, उतना ही आम जनता से दूर होते हुए चंद मुनाफाखोर हाथों में कैद होता गया है।

आज ज्यादातर समाचार के नाम से जो परोसा जा रहा है, उसे सुनना-देखना-पढ़ना तो और ज्यादा जोखिम भरा है, क्योंकि झूठे व बेसिर-पैर की सूचनाओं का अम्बार 'धोखे की टट्टी' खड़ा करते हैं। ये मन-मस्तिष्क पर बहुत गहराई से प्रभाव डालते हैं और एक खास किस्म के विचारों की छाप छोड़ते चले जाते हैं। 'ब्रेकिंग न्यूज' के माध्यम से उन्मादी पागलपनभरा एक ऐसा माहौल खड़ा किया जाता है, जिसका यथार्थ व विवेक से कुछ भी लेना-देना नहीं है। ऊपर से 'कमर्शियल ब्रेक' 'कोढ़ में खाज' का काम करती हैं। मीडिया की पूरी प्रस्तुति इतनी शातिराना और तयशुदा होती हैं कि प्रगतिशील बुद्धिजीवी तक विभ्रम के शिकार बने रहते हैं।

कुल मिलाकर पूरी मीडिया लोगों को निष्क्रिय बनाती है। निष्क्रियता के दो आयाम होते हैं - भौतिक व बौद्धिक। 'मानस प्रबंधन' की तकनीकें और संदेश इन दोनों का कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करते हैं। गौर करें, लोग ज्यादा समय टेलीवीजन पर बिताते हैं और कमरे से बाहर निकलने में उनमें जरा भी उत्साह नहीं होता। दूसरी तरफ, मोबाइल आज हर आदमी की पहुँच में है। ज्यादातर लोग इसका इस्तेमाल गेम खेलने, एसएमएस भेजने, विज्ञापन सुनने-पढ़ने, स्कीमें देखने और बेवजह के गपशप में करते हैं। युवा पीढ़ी अपना समय फालतू के 'नेटवर्क' सर्चिंग में जाया करती है। बच्चे कम्प्यूटर के झूठे कल्पना लोक में विचरण करते हैं। ज़िन्दगी की ठोस सच्चाइयों से रूबरू होने के लिए किसी के पास वक्त नहीं है और लोग पंगु बने रहते हैं।

यह मुनाफाखोर शक्तियों द्वारा लम्बे समय में विकसित 'विचारों के प्रबन्धन' की एक ऐसी तकनीक है, जो मानव मन को अपने अनुरूप ढालने का काम करती है। 'जाहिल जनता' को 'अनिवार्य भ्रमों' के माध्यम से धोखे में रखना और उसकी आत्मा पर कब्जा करना ही जिसका उद्देश्य है। पूरी मीडिया ऐसे सन्देशों-कार्यक्रमों को परोसती है, जो इरादतन यथार्थ का मिथ्याबोध रचता है, जिससे ऐसी चेतना का निर्माण होता है, जो वास्तविक जीवन की सच्चाई को नहीं समझ सकता। मन रूपी छन्नी पर लगातार हमला होता रहता है, हर घण्टे दर्जनों घोषणाएँ बहायी जाती हैं, जो संवेदनहीन सहमति को जन्म देती है। लोगों को पता ही नहीं चलता कि वे मतिभ्रम के शिकार हो रहे हैं। लोग, विशेष रूप से नौजवान आत्ममुग्धता के सिर्फ अपने लिए जीने की संस्कृति के शिकार होते हैं और दुर्दशा- असफलता का कारण खुद के भीतर ढूंढने लगते हैं।

'जनता के मन-मस्तिष्क को नियंत्रण में रखने' की लम्बे समय से विकसित यह तकनीक आज एक विशालकाय जनसम्पर्क उद्योग, पब्लिक रिलेशन इण्डस्ट्री का रूप ले चुकी है। उद्योग जगत के शहंशाहों ने एक लम्बी प्रक्रिया में इसे विकसित किया और व्यवहार में उतारा। समाज को नियंत्रित करने के लिए पूँजीवाद के पास जितने भी औजार हैं, उनमें संचार माध्यमों की उपयोगिता और अपरिहार्यता सर्वाधिक तेज गति से बढ़ी है। उन्होंने प्रचार माध्यमों का जबर्दस्त इस्तेमाल करते हुए इसको एक पूरी प्रणाली के रूप में विकसित किया है। ***नोम चॉम्स्की के*** शब्दों में ''यह निश्चित ही आधुनिक इतिहास के प्रमुख विषयों में एक है।''

* * *

संचार माध्यम और संस्कृति के विशेषज्ञ अमरीकी लेखक हरबर्ट आई. शिलर ने मीडिया के एकाधिकार और वर्चस्ववादी चरित्र पर काफी कुछ लिखा है। उन्होंने 1973 में लिखित, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बुद्धि के व्यवस्थापक' (हिन्दी प्रकाशक, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली) में इस पर विस्तार से चर्चा करते हुए चेतना गढ़ने वाली दो तकनीकों का जिक्र किया है– 'संचार के रूप की तरह विखण्डन' व 'सूचना की तात्कालिकता'। उन्होंने पाँच मिथकों– ''व्यक्तिगत और निजी/व्यक्तिगत चयन का मिथक, तटस्थता का मिथक, मानव स्वभाव में अपरिवर्तनीय होने का मिथक, सामाजिक अंतर्विरोधों की अनुपस्थिति का मिथक व मीडिया के बहुलवाद का मिथक'' - को उजागर करते हुए बताया है कि कैसे इन ''मिथकों का इस्तेमाल लोगों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए होता है। मिथक जब जनता की चेतना में धीरे-धीरे सन्निविष्ट कर दिये जाते हैं– यह काम सूचनात्मक उपकरणों द्वारा किया जाता है– तब उनकी शक्ति बहुत अधिक हो जाती है, क्योंकि अधिकतर लोगों को इस बात की कोई जानकारी नहीं होती कि उन्हें

झूठ-फरेब का शिकार बनाया जा रहा है। मिथक जिस विशेष रूप से प्रसारित किये जाते हैं, वह नियंत्रण की प्रक्रिया को और प्रभावी बना देता है। प्रसारण की तकनीक अपने आप में झूठ-फरेब की प्रक्रिया में अतिरिक्त आयाम जोड़ सकती है। वास्तव में हम जो देखते हैं, वह यह है कि संचार का जैसा रूप, बाजार अर्थव्यवस्थाओं में और विशेषकर अमरीका में विकसित हुआ, वह चेतना नियंत्रण का वास्तविक साकार रूप है।.... इसे हम विखण्डन कहेंगे।

".... प्रसारण मीडिया में लगातार बढ़ रहे 'टॉक शो' विखण्डन के एकदम सटीक मॉडल हैं। किसी मल्टी आइटम कार्यक्रम में कभी-कभार किसी विवादास्पद विषय या व्यक्ति का शामिल किया जाना उस विवाद को महत्त्वहीन कर देने के साथ-साथ पूरी तरह बिखेर देता है। जो कुछ कहा भी गया है, उसे उसके बाद दिखाये जाने वाले वाणिज्यिक विज्ञापन, हँसी-मजाक, चुटकले और बेसिर-पैर की लंतरानियाँ हजम कर जाती हैं। बात यहीं खत्म नहीं होती। व्यवस्था की उदार सहिष्णुता के साक्ष्य के रूप में इस तरह के कार्यक्रमों की प्रशंसा कर उन्हें आसमान पर चढ़ा दिया जाता है।..... जब किसी सामाजिक मुद्दे की सम्पूर्णता से जानबूझकर बचा जाता है और उसके असम्बद्ध अंशों को 'सूचना' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो उसका सुनिश्चित परिणाम होता है - ज्यादा से ज्यादा दुर्बोधता, अज्ञान, संवेदनहीनता और अधिकांशतः उदासीनता।... विश्वविद्यालय के विभाग क्या प्रदान करते हैं,... अर्थशास्त्र अर्थशास्त्रियों के लिए है, राजनीतिशास्त्र राजनीतिशास्त्रियों के लिए। जबकि यथार्थ की दुनिया में इन दोनों विषयों को अलग नहीं किया जा सकता।....

"विखण्डन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध और वास्तव में उसके संचालन में एक अनिवार्य तत्व तात्कालिकता है। यहाँ और अभी वाला यह गुण सूचनात्मक व्यवस्था की जोड़-तोड़ की शक्ति बढ़ाने में सहायक होती है। यह तथ्य कि सूचना क्षणभंगुर है और इसकी कोई स्थायी संरचना नहीं है, समझदारी को भी नुकसान पहुँचाता है।.... जब कोई वास्तविक या मान लीजिए छद्म संकट भी उपस्थित होता है, तो ऐसा उन्मादी और पागलपनभरा माहौल बना दिया जाता है, जिसका विवेक से कुछ लेना-देना नहीं होता। तात्कालिकता पर जोर दिये जाने से उत्पन्न आवश्यकता का झूठाबोध सारी विषयवस्तु के महत्त्व को पहले भड़काता और फिर बाद में बुझा देता है। परिणामस्वरूप महत्त्व के विभिन्न अंशों के बीच भेद स्थापित कर सकने की योग्यता प्रभावित होती है।..."

निष्क्रियता को विचार प्रबंधन का मूलभूत लक्ष्य बताते हुए वे लिखते हैं कि "अमरीकी संचार की विषयवस्तु और रूप– उन्हें प्रसारित करने के मिथक और साधन– **जोड़-तोड़ को समर्पित** हैं। सफलतापूर्वक इस्तेमाल किये जाने पर– जैसा कि वे होते ही हैं– परिणाम होता है व्यक्ति की निष्क्रियता, जड़ता की **ऐसी स्थिति** जो सक्रियता का निषेध करती है। .... निष्क्रियता उस **सामाजिक कार्रवाई** की क्षमता को नष्ट करती है जो मानव की परिपूर्णता पर **सीमाएँ** थोपने वाली दशाओं को बदल सकती है।.... निष्क्रियता के दो **आयाम** होते हैं– भौतिक व बौद्धिक। 'मानस प्रबंधन' की तकनीकें और संदेशों इन दोनों का कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करती हैं।

"..... व्यक्ति में निष्क्रियता को पैठाने के लिए टेलीविजन सर्वाधिक नया उपकरण है।... जैसा कि **रूडोल्फ ऐमहीम** कहते हैं, "टेलीविजन की विशेषताओं में से एक यह है कि आप इसे चलाते हैं और फिर जो कुछ आता है जिसका अर्थ है दर्शक की एक जबर्दस्त निष्क्रिय भूमिका। इससे कोई मतलब नहीं कि इस चीज से क्या बाहर आ रहा है– यह किसी विदेशी भाषा का कार्यक्रम हो सकता है, हो सकता है ऐसा कुछ जिसमें किसी की कोई दिलचस्पी न हो और ऐसा कोई उत्तेजक जिसके प्रति आप वस्तुतः कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रहे हैं, आपको सुला देगा। यह ऐसा है जैसे कोई आपको धमकी दे रहा हो.. ... कुछ जो आपको उत्प्रेरित नहीं करता, आपको प्रतिक्रिया करने के लिए उत्तेजित नहीं करता, बल्कि महज मानसिक रूप से सक्रिय होने की आवश्यकता को नष्ट कर देता है। आपका दिमाग एक अप्रतिबद्ध तरीके से व्यस्त रखा जाता है। इंद्रियाँ जिन पर अन्यथा कुछ सक्रिय करने का दायित्व होता है, व्यस्त कर दी जाती है।" ... टीवी का बटन दबाना, सोफे में पसर जाना और दिमाग में किसी रूपान्तरण के बिना छवियों को गुजरने देना– यह सब कितना आसान है। संचार की इस प्रवृत्ति के साथ ऐसे ही पंगुकारी प्रभाव डालने की जानबूझकर कोशिश करने वाली पैकेज प्रोग्रामिंग भी जोड़ दी जाती है, इसका परिणाम आम तौर पर हतबुद्धि कर देने वाला होता है।

".... जानबूझकर निर्जीव/संज्ञाशून्य बना देने वाली प्रोग्रामिंग और शारीरिक रूप से निष्क्रिय बना देने वाली संचार तकनीक का संयोग है। समकालीन अमरीकी मानस प्रबंधन तंत्र।.... हर हाल में, पहला काम है सूचनात्मक कलाओं में जोड़-तोड़ के क्रियाकलापों की तमाम अभिव्यक्तियों को समझना।" ❑

विकास से बहिष्कृत गरीब और आँकड़ों पर विवाद

❑अशोक कुमार पाण्डेय

गरीबी की बहस हमारे देश में बहुत पुरानी है। आजादी के बाद से ही विकास की तमाम योजनाओं में गरीबी हटाने और सामाजिक विषमता को दूर करने की बातें की जाती रही। लेकिन गरीबी कम होना के बजाय लगातार बढ़ती गयी।

शहरों की ओर पलायन

अंग्रेजों की गुलामी के लम्बे दौर में पारम्परिक अर्थव्यवस्था—दस्तकारी को नष्ट कर दिया गया था और पूरी दुनिया में हुए शहरीकरण के विपरीत भारत में नगरों से गाँवों की तरफ पलायन ने स्थिति को बद से बदतर बना दिया था। एक तरफ कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा था तो दूसरी तरफ खेती की उपज भी काफी कम थी। इसके साथ जमीन के बँटवारे में भयावह असमानता और गाँवों में पुरोगामी सामाजिक संरचनाओं की उपस्थिति ने खासतौर पर, वहाँ रहने वाली गरीब दलित-पिछड़ी आबादी के लिये गाँवों को नर्क में तब्दील कर दिया था। इसीलिये आजादी के बाद जब नेहरूवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के दौर में औद्योगीकरण आरम्भ हुआ तो बड़ी संख्या में गाँवों से शहरों की तरफ पलायन हुआ। गाँवों की तलछट पर रह रहे ये लोग नये विकसित हो रहे शहरों में बेहतर रोजगार, समानतापूर्ण व्यवहार और प्रगति के सपनों के साथ आये। महानगरों में निर्माण कार्यों और नयी-नयी फैक्ट्रियों के लिये श्रमिकों की यह फौज जरूरी थी। अपने बेहद सस्ते श्रम के जरिये इस विस्थापित मेहनतकश आबादी ने नये भारत के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और अब भी निभा रहे हैं। लेकिन विकास की सारी चमक-दमक के बावजूद यह तबका अपने बसाये शहरों में भी अजनबी ही बना रहा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ अब भी उसके लिये एक सपना ही रहीं। शहरों की नयी-नयी बस्तियों में इनके लिये जगह नहीं थी। बहुत ही कम मजदूरी और अक्सर रोजगार की अनिश्चितता के कारण इस आबादी का जो हिस्सा दैनिक वेतनभोगी में तब्दील हुआ या जिसने रिक्शा खींचने, सब्जी बेचने, ठेले-खोमचे लगाने जैसे काम अपनाये, वह शहर में भी उतना ही बेगाना रहा जितना गाँव में था, बल्कि शहरों की खास बनावट के कारण अक्सर उससे भी ज्यादा। इसे रहने की जगह मिली शहरों की झोपड़पट्टियों में और बिजली, साफ पानी, सैनिटेशन जैसी सुविधायें कभी इन तक पहुँची ही नहीं। शहर के संभ्रांत वर्ग के लिये यह खूबसूरती पर लगे धब्बे की तरह अवांछनीय रहा तो राजनीतिक दलों के लिये एक वोट बैंक के रूप में अपनी अनुपयोगिता के कारण महत्त्वहीन। 'भारत गाँवों में बसता है' के मंत्र की तरह जाप के बावजूद गाँवों की भी ऐसी ही नियति रही। हालाँकि शहरी और ग्रामीण गरीबी आपस में विरोधाभासी या प्रतियोगी नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। खेती की निरन्तर तबाही और बदहाली के कारण ही लोग गाँव से शहरों की ओर रोजगार की तलाश में भटकने को मजबूर होते हैं और शहरी गरीबों की संख्या बढ़ती चली जाती है।

शहरी गरीबी पर एक रिपोर्ट

पिछले दिनों भारत सरकार के भवन निर्माण तथा शहरी विकास मंत्रालय ने संयुक्त राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) के सहयोग से पहली बार 'शहरी गरीबी रिपोर्ट 2009' प्रस्तुत की। इसके आँकड़े और तथ्य स्थिति की भयावहता ही बयान नहीं करते बल्कि इस संदर्भ में फैले तमाम दुष्प्रचारों की कलई भी उतारते हैं।

इस रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि भारत में जिस जनसंख्या वृद्धि को सबसे बड़ी समस्या बताया जाता है, शहरों में वह दूसरे एशियाई देशों के औसत से कम है। इसके अनुसार पिछले दिनों भारत की संवृद्धि दर एशिया के कुछ सबसे तेजी से विकसित हो रहे देशों के लगभग बराबर 8 फीसदी रही, लेकिन यहाँ शहरीकरण की वृद्धि दर 28 फीसदी यानी एशिया की औसत शहरीकरण वृद्धि दर से कम रही। लेकिन इसके बावजूद यहाँ गरीबों का अनुपात 25 फीसदी है। रिपोर्ट का यह भी मानना है कि पिछले दो दशकों में ग्रामीण और शहरी गरीबी के बीच का अन्तर कम हुआ है। साथ ही वृद्धि दर तेज होने के बावजूद शहरी गरीबी कम नहीं हुई। इसके चलते शहरों में झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों की संख्या बढ़ी है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत के शहरों में झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों की संख्या 42 करोड़ छः लाख है जो कि लगभग स्पेन की कुल जनसंख्या के बराबर है। यही नहीं, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों की

संख्या जिस रफ्तार से बढ़ी उतनी ही तेजी से झुग्गी-झोपड़ियों की संख्या में वृद्धि न होने के कारण इनका जीवन स्तर और भी बदतर हुआ है। इन जगहों पर सुविधाओं का बेहद अभाव है। ऐसी लगभग 55 फीसदी बस्तियों में शौचालयों की कोई व्यवस्था नहीं है और ये साफ पानी, बिजली, जैसी चीजों से भी महरूम हैं। इसके अलावा इसी जनगणना के अनुसार अब भी शहरों में सात लाख अठहत्तर हजार लोगों के सर पर छत नहीं है और ये फुटपाथों, रेल की पटरियों के किनारे, खुले मैदानों तथा सड़कों के इर्द-गिर्द रात बिताने को मजबूर हैं। इनके लिये रैन बसेरों का इंतजाम कितना नाकाफी है, यह देखने के लिये दिल्ली का उदाहरण काफी होगा जहाँ लगभग एक लाख निराश्रितों के लिये बस 2937 लोगों की क्षमता वाले 14 रैन बसेरे हैं, यानी सिर्फ तीन फीसदी लोगों के लिये! शेष या तो खुले आसमान के नीचे सोते हैं या फिर निजी ठेकेदारों के रहमोकरम पर। रिपोर्ट में एक अध्ययन का भी जिक्र है जिसके अनुसार महानगरों के निराश्रित मर्द, औरत और बच्चे अक्सर पुलिस के दुर्व्यवहार के शिकार होते हैं। रईसजादों द्वारा इनको मोटरगाड़ियों से कुचले जाने के किस्से तो आये दिन अखबारों में आते ही रहते हैं। रिपोर्ट के अनुसार भारत के शहरी गरीबों की कुल संख्या उसकी आबादी का 25 फीसदी है यानी लगभग दो करोड़।

गरीबी रेखा पर विवाद की शुरुआत

दरअसल गरीबी का यह आँकड़ा भी भारत सरकार द्वारा प्रयोग किये जाने वाली गरीबी रेखा पर ही आधारित है। यहाँ उस पर थोड़ी चर्चा कर लेना विषयान्तर न होगा। भारत में गरीबी रेखा के रूप में गरीबी को निर्धारित करने का प्रस्ताव सबसे पहले 1957 में इण्डियन लेबर कान्फ्रेंस के दौरान दिया गया था। उसी के बाद योजना आयोग ने एक कार्य समूह बनाया था जिसने भारत के लिये आवश्यक कैलोरी उपभोग पर आधारित गरीबी रेखा का प्रस्ताव किया। इसके तहत उस समय बीस रुपये प्रतिमाह को विभाजक रेखा माना गया। 1979 में योजना आयोग ने ही गरीबी को पुनर्परिभाषित करने के लिये एक टास्क फोर्स का गठन किया। लेकिन इसने भी मामूली फेरबदल के साथ मूलतः आवश्यक कैलोरी उपभोग की अवधारणा को ही आधार बनाया। 1973 की कीमतों को आधार बनाते हुए इसने ग्रामीण क्षेत्रों के लिये 49 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों के लिये 57 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह की विभाजक रेखा तय की। मुद्रास्फीति के अनुसार इसमें समय-समय पर समायोजन किया गया जो आज कल शहरी क्षेत्रों के लिये 559 रुपये और गाँवों के लिये 368 रुपये है। योजना आयोग गरीबी रेखा के निर्धारण के लिये राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर एनएसएसओ के उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षणों के आधार पर विभाजक रेखा तय करता है। 2004-2005 के लिये प्रोफेसर लकड़वाला की अध्यक्षता में 1997 में बने एक्स्पर्ट ग्रुप द्वारा की गयी अनुशंसा के आधार पर जो आँकड़े निकाले गये थे उनके अनुसार देश में उस समय गरीबों की कुल संख्या 28.3 प्रतिशत थी। सेन्टर फॉर पालिसी अल्टरनेटिव की एक रिपोर्ट में मोहन गुरुस्वामी और रोनाल्ड जोसेफ एब्राहम इस गरीबी रेखा को भुखमरी रेखा कहते हैं। कारण साफ है। इसके निर्धारण का इकलौता आधार आवश्यक कैलोरी उपभोग है। यानी इसके अनुसार वह आदमी गरीब नहीं है जो किसी तरह दो जून अपना पेट भर ले और अगले दिन काम करने के लिये जिन्दा रहे। युनीसेफ स्वस्थ शरीर के लिये प्रोटीन, वसा, लवण, लौह और विटामिन जैसे तमाम अन्य तत्वों को जरूरी बताता है जिसके अभाव में मनुष्य कुपोषित रह जाता है तथा उसकी बौद्धिक व शारीरिक क्षमतायें प्रभावित होती हैं। लेकिन गरीबी रेखा तो केवल जिन्दा रहने के लिये जरूरी भोजन से आगे नहीं बढ़ती। इसके अलावा शायद व्यवस्था यह मानकर चलती है कि आबादी के इस हिस्से का स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, घर, साफ पानी, सैनिटेशन जैसी तमाम मूलभूत सुविधाओं पर कोई हक नहीं है। वैसे तो जिस आवश्यक कैलोरी उपभोग की बात की जाती है (शहरों में 2100 तथा गाँवों में 2400 कैलोरी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन) वह भी दिन भर जी तोड़ मेहनत करने वालों के लिहाज से कम है। इण्डियन कॉउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च के अनुसार भारी काम में लगे हुए पुरुषों को प्रतिदिन 3800 कैलोरी तथा महिलाओं को 2925 कैलोरी जरूरी है। यही नहीं, अनाजों की कीमतों में वृद्धि के चलते उपभोग में कमी, स्वास्थ्य तथा शिक्षा जैसे क्षेत्रों में सरकार की घटती भागीदारी, विस्थापन तथा तमाम ऐसी ही दूसरी परिघटनाओं की रोशनी में यह रेखा आर्थिक स्थिति के आधार पर समाज को जिन दो हिस्सों में बाँटती है उसमें ऊपरी हिस्से के निचले पायदान पर खड़ी एक बहुत बड़ी आबादी भयावह गरीबी और वंचना का शिकार है और तमाम सरकारी योजनायें आधिकारिक तौर पर गरीब न होने के कारण उसको लाभार्थियों की श्रेणी से बाहर कर देती है।

इसी वजह से भारत सरकार के गरीबी के आधिकारिक आँकड़े हमेशा से विवाद में रहे हैं। विभिन्न अन्तरराष्ट्रीय तथा दूसरी स्वतंत्र संस्थाओं के अध्ययनों में देश में वास्तविक गरीबों की संख्या के आँकड़े सरकारी आँकड़ों से कहीं ज्यादा रहे हैं। अभी हाल ही में विश्व बैंक की रिपोर्ट– ग्लोबल इकोनॉमिक प्रॉस्पेक्ट्स फॉर 2009 में अनुमान लगाया गया है कि 2015 में भारत की एक तिहाई आबादी बेहद गरीबी (1.25 डालर यानी लगभग 60 रुपये प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति से भी कम आय) में गुजारा कर रही होगी। इस रिपोर्ट के अनुसार यह स्थिति सब-सहारा देशों को छोड़कर पूरी दुनिया में सबसे बदतर होगी। यही नहीं, यह रिपोर्ट भारत की तुलनात्मक स्थिति के लगातार बदतर होते जाने की ओर भी इशारा करती है। इसके अनुसार जहाँ 1990 में भारत की स्थिति चीन से बेहतर थी वहीं 2005 में जहां चीन में गरीबों का प्रतिशत 15.9 रह गया, भारत में यह बढ़कर 41.6 हो गया।

गरीबों की गिनती की नयी कवायदें

इन्हीं विसंगतियों के मद्देनजर पिछले दिनों सरकार ने गरीबी रेखा के पुनर्निर्धारण के लिये जो नयी कवायदें शुरु कीं, उन्होंने इस जिन्न को बोतल से बाहर निकाल दिया है। सबसे पहले आई असंगठित क्षेत्र के उद्यमों के लिये गठित राष्ट्रीय आयोग (अर्जुन सेनगुप्ता समिति) की रिपोर्ट ने देश में तहलका ही मचा दिया था। इसके अनुसार देश की 77 फीसदी आबादी 20 रुपये रोज से कम में गुजारा करती है। दो अंकों वाली संवृद्धि दर और शाईनिंग इण्डिया के दौर में यह आँकड़ा सच्चाई के घिनौने चेहरे से नकाब खींचकर उतार देने वाला था। समिति ने असंगठित क्षेत्र के लिये दी जाने वाली सुविधायें इस आबादी तक पहुँचाने की सिफारिश की थी। लेकिन बात यहीं पर खत्म नहीं हुई। भारत सरकार द्वारा गरीबी रेखा के निर्धारण के लिये मानक तैयार करने के लिये ग्रामीण विकास मंत्रालय के पूर्व सचिव एन. के. सक्सेना की अध्यक्षता में जो समिति बनाई थी उसके आँकड़े और भी चौंकाने वाले थे। इस समिति ने अगस्त-2009 में पेश अपनी रिपोर्ट में गरीबी रेखा से ऊपर रहने वालों के विभाजन के लिये पाँच मानक सुझाये, जिसमें शहरी क्षेत्रों में न्यूनतम 1000 रुपये तथा ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम 700 रुपयों का उपभोग या पक्के घर या दो पहिया वाहन या मशीनीकृत कृषि उपकरणों, जैसे– ट्रैक्टर या जिले की औसत प्रतिव्यक्ति भू सम्पत्ति का स्वामित्व। इस आधार पर गरीबी रेखा निर्धारित करने पर समिति ने पाया कि भारत की ग्रामीण जनसंख्या का कम से कम पचास फीसदी इसके नीचे जीवनयापन कर रहा है।

समिति का यह भी मानना है कि जहाँ पुराने मानदण्डों पर भी 1973-74 से 2004-05 के बीच गरीबी 56 प्रतिशत से घटकर 28 प्रतिशत हो गयी, लेकिन गरीबों की वास्तविक संख्या में कोई कमी नहीं आयी। अपने निष्कर्ष में वह कहते हैं कि गरीब परिवारों की एक बहुत बड़ी संख्या गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों से बहिष्कृत रही है।

इस दौरान योजना आयोग के एक सदस्य अभिजीत सेन ने तर्क दिया था कि गरीबों की गणना आवश्यक कैलोरी उपभोग की जगह आय के आधार पर की जानी चाहिये। उनका यह भी मानना था कि मौजूदा मानकों के आधार पर गणना से शहरी क्षेत्रों में गरीबों की वास्तविक संख्या 64 फीसदी तथा गाँवों में अस्सी फीसदी है।

तेन्दुलकर समिति रिपोर्ट की दरिद्रता

केन्द्र सरकार द्वारा प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार समिति के तत्कालीन अध्यक्ष सुरेश तेन्दुलकर समिति को गरीबों की संख्या की गणना की जिम्मेदारी दी गयी थी। इस आयोग की पिछले महीने प्रस्तुत रिपोर्ट एक तरफ तो आवश्यक कैलोरी उपभोग वाली परिभाषा से आगे बढ़ने की कोशिश करती है तो दूसरी तरफ आँकड़ों में गरीबी कम दिखाने का दबाव भी इस पर साफ झलकती है।

तेन्दुलकर समिति के अनुसार 2004-05 में भारत की कुल आबादी का 37.2 फीसदी हिस्सा गरीबी रेखा के नीचे है। यह आँकड़ा योजना आयोग के 27.5 फीसदी से तो अधिक है, लेकिन अर्जुन सेन गुप्त या अभिजीत सेन कमेटी या ऐसे अन्य अध्ययनों की तुलना में काफी कम। हालाँकि मानकों के परिवर्तन के कारण योजना आयोग से इसकी सीधी तुलना सम्भव नहीं है। आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी निर्धारण के लिये सीमारेखा 356.30 से बढ़ाकर 444.68 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 538.60 रुपये से बढ़ाकर 578.80 की है। इस आधार पर दैनिक उपभोग की राशि शहरों में लगभग 19 रुपये और गाँवों में लगभग 15 रुपये ठहरती है जो विश्वबैंक द्वारा तय की गयी अन्तरराष्ट्रीय गरीबी रेखा (20 रुपये) से भी कम है।

समिति ने आवश्यक कैलोरी वाले मानक को पूरी तरह समाप्त कर दिया है। इसकी जगह पर समिति का जोर शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य क्षेत्रों में होने वाले खर्चों को भोजन के साथ समायोजित करके तथा ग्रामीण और शहरी विभाजन को समाप्त करके क्रय शक्ति की समानता पर आधारित एक अखिल भारतीय गरीबी रेखा के निर्धारण पर है। यह अवधारणा के रूप में 1973-74 वाले मानकों से निश्चित रूप से बेहतर हैं जिसमें शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी तमाम जरूरतों को सरकार द्वारा मुफ्त उपलब्ध कराये जाने की मान्यता पर आधारित थे। लेकिन आवश्यक कैलोरी उपभोग वाली अवधारणा को पूरी तरह से खत्म किया जाना, खासतौर से तब जबकि पिछले दिनों अन्तरराष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान के अन्तरराष्ट्रीय भूख सूचकांक में भारत को 66 वें पायदान पर रखा गया है, और खाद्यान्न संकट, अनाजों की कीमतों में अभूतपूर्व तेजी तथा कुपोषण की समस्या लगातार गहराती गयी है, इसकी नीयत पर सवाल उठाता है। इस दौर में पेश की गयी इस अवधारणा का अर्थ गरीबी रेखा से वास्तविक गरीबों के बहुलांश को बाहर करना है। यहाँ पर यह भी बता देना जरूरी है कि कई हालिया अध्ययन बताते हैं कि सबसे गरीब दस फीसदी लोगों का कैलोरी उपभोग सबसे अमीर दस फीसदी लोगों के कैलोरी उपभोग से कम है, जबकि सबको पता है कि जहाँ अमीर आदमी भोजन के अलावा तमाम दूसरी पोषक चीजों का भी उपभोग करता है वहीं गरीबों का वह तबका अपनी लगभग पूरी आय भोजन पर ही खर्च करता है।

दरअसल मानकों के न्यायपूर्ण निर्धारण के लिये जहाँ एक तरफ आवश्यक कैलोरी उपभोग की अवधारणा को इण्डियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च की पूर्व में उद्धृत अनुशंसा के आधार पर और ऊंचे स्तर पर ले जाते हुए इसमें पोषण के लिये

आवश्यक अन्य तत्वों के साथ समायोजित किया जाना चाहिये था वहीं दूसरी ओर एक सम्मानजनक जीवनस्तर के लिये आवश्यक शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, घर, पीने का साफ पानी, सैनिटेशन जैसी तमाम चीजों से जोड़कर देखा जाना चाहिये था। इस संदर्भ में सेंटर फार आल्टरनेटिव पालिसी रिसर्च द्वारा मूलभूत आवश्यकताओं की कीमत पर आधारित गरीबी की विभाजक रेखा ज्यादा न्यायपूर्ण लगती है जिसमें 2004-2005 के लिये अखिल भारतीय स्तर पर 840 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह का निर्धारण किया गया है । इसके साथ ही एन. के. सक्सेना द्वारा सुझाये गये मानक भी सच के ज्यादा करीब हैं।

तेन्दुलकर समिति गरीबी निर्धारण के आधारों में विस्तार के दावे के बावजूद गरीबी की बहुआयामी प्रकृति के बारे में कोई पहल नहीं करती। पहले की तमाम रिपोर्टों की तरह यह भी गरीबी को महज आर्थिक समस्या की तरह निरूपित करती है। इसके सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों को समझे बिना इसे जड़मूल से समाप्त किया ही नहीं जा सकता। जाति, लिंग, शारीरिक अक्षमता, क्षेत्रीय असंतुलन जैसे तमाम कारक भारत में गरीबी को निर्धारित करते हैं।

गरीबों के प्रति सरकार की हृदयहीनता

गरीबी रेखा के रूप में आय या आवश्यक कैलोरी उपभोग के किसी एक खास आँकड़े को विभाजक बना देना रोज बदलती कीमतों और रोजगार की अनिश्चितता की रोशनी में दरअसल एक भद्दा मजाक है। जब दाल 90 रुपये, चावल 20 रुपये, आटा 17 रुपये किलो बिक रहा है, डाक्टरों की फीस आसमान छू रही है, दवायें इतनी मँहगी हैं और बसों तथा रेलों से कार्यस्थल तक पहुँचने में ही 10-15 रुपये खर्च हो जाते हैं तो दिल्ली के वातानुकूलित दफ्तरों में बैठकर यह तय करना कि 15 या 20 रुपये रोज में एक आदमी अपना खर्च चला सकता है और उससे अधिक पाने वालों को सहायता देने की कोई जरूरत नहीं है, उस सरकार की पक्षधरता को स्पष्ट कर देता है जो पिछले साल के बजट में पूंजीपतियों को सहायता और करों में छूट के रूप में 4,18,095 करोड़ रुपयों की सौगात दे चुकी है। सरकार की पक्षधरता तो तभी स्पष्ट हो गयी थी जब मंदी से निपटने के नाम पर उद्योगपतियों और निर्यातकों को अकूत राशि बाँटी गयी, लेकिन जिन लोगों ने अपने रोजगार गँवाये या जिनकी तनख्वाहों में कटौतियाँ की गयी उन लोगों की सुरक्षा या इस संकट से बचाने के लिये कोई कदम उठाने की जरूरत महसूस नहीं की गयी। परिणाम यह हुआ कि शहर में दिहाड़ी मजदूरी करके गुजारा करने वाले गरीबों की जिन्दगी और भी मुश्किल हो गयी। सूरत में हीरा व्यापार में लगे तमाम मजदूरों द्वारा आत्महत्या की खबरें आईं, लेकिन विदर्भ के किसानों की तरह ही वे भी मुख्यधारा की मीडिया को आकर्षित नहीं कर पाये।

दरअसल नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से यह समस्या और गंभीर हुई है। श्रम कानूनों में ढील, सरकारी संस्थानों का निजीकरण और सामाजिक सवालों पर सरकारी खर्चों में कटौती ने इस बदहाली को नये आयाम दे दिये हैं। रिसाव (ट्रिकिल डाउन) के जिस सिद्धान्त के तहत माना गया था कि उच्च वृद्धि दर से अपने आप व्यापक गरीब आबादी का जीवन स्तर सुधरेगा, वह पिछले बीस सालों में कहीं लागू होता नहीं दिखता। इस प्रक्रिया में अगर कुछ बढ़ा है तो वह है आर्थिक विषमता। ऐसे में संयुक्त राष्ट्र संघ की जिस रिपोर्ट की पहले चर्चा की गयी है उसमें मूलभूत सुविधाओं के आबंटन में बराबरी, छोटे तथा मध्य आकार के कस्बों को विशेष सहायता, विकेंद्रीकरण हेतु संविधान में सुधार, गरीब लोगों तथा झुग्गी-झोपड़ियों के लिये सब्सीडियों का विस्तार, सैनिटेशन तथा पेयजल उपलब्ध कराने के प्रयास जैसे सुझावों को लागू हो पाने की उम्मीद शायद ही किसी को हो।

सरकार की मंशा गरीबी के मानदण्डों में फेरबदल करके गरीबों की संख्या में जानबूझ कर कमी लाना है ताकि वह गरीबी उन्मूलन के लिए आबंटित पहले से ही तुच्छ राशि को और कम कर सके। जिस संसद और मंत्रिमण्डल में अरबपतियों-करोड़पतियों की जमघट हो उससे भला और क्या उम्मीद की जा सकती है।

❑

इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि 'कारपोरेट प्रोपेगेण्डा' 20वीं सदी के अमरीकी इतिहास के प्रमुख विषयों में गिना जाता है। यह 'कारपोरेट प्रोपेगेण्डा' हिमालय जैसा एक विशाल उद्योग है। इसमें स्पष्ट तौर पर व्यवसायी मीडिया की भरमार है। लेकिन इसमें संचार तंत्र की पूरी की पूरी शृंखला शामिल है, जो आम जनता के पास पहुँचती है। मनोरंजन उद्योग, टेलीविजन, जो स्कूलों में प्रकाशित होता है उसका खासा हिस्सा, बहुत कुछ जो अखबारों में छपता है इत्यादि। इसका अधिकांश भाग सीधे जनसम्पर्क उद्योग से निकलता है जो अमरीका में बीसवीं सदी की शुरुआत में स्थापित हुआ और 1920 के दौर से आगे विकसित हुआ है। ... जनता के दिमाग को काबू में रखने की जरूरत है। ... जनसाधारण की व्यवस्थित परम्परागत आदतों और विचारों में हेराफेरी करके उनको बदलना जनतांत्रिक समाज का मुख्य कार्यभार है। यह 'जनतंत्र का निचोड़ है।

- एडवर्ड बर्नेस